वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४९ अंक २ फरवरी २०११
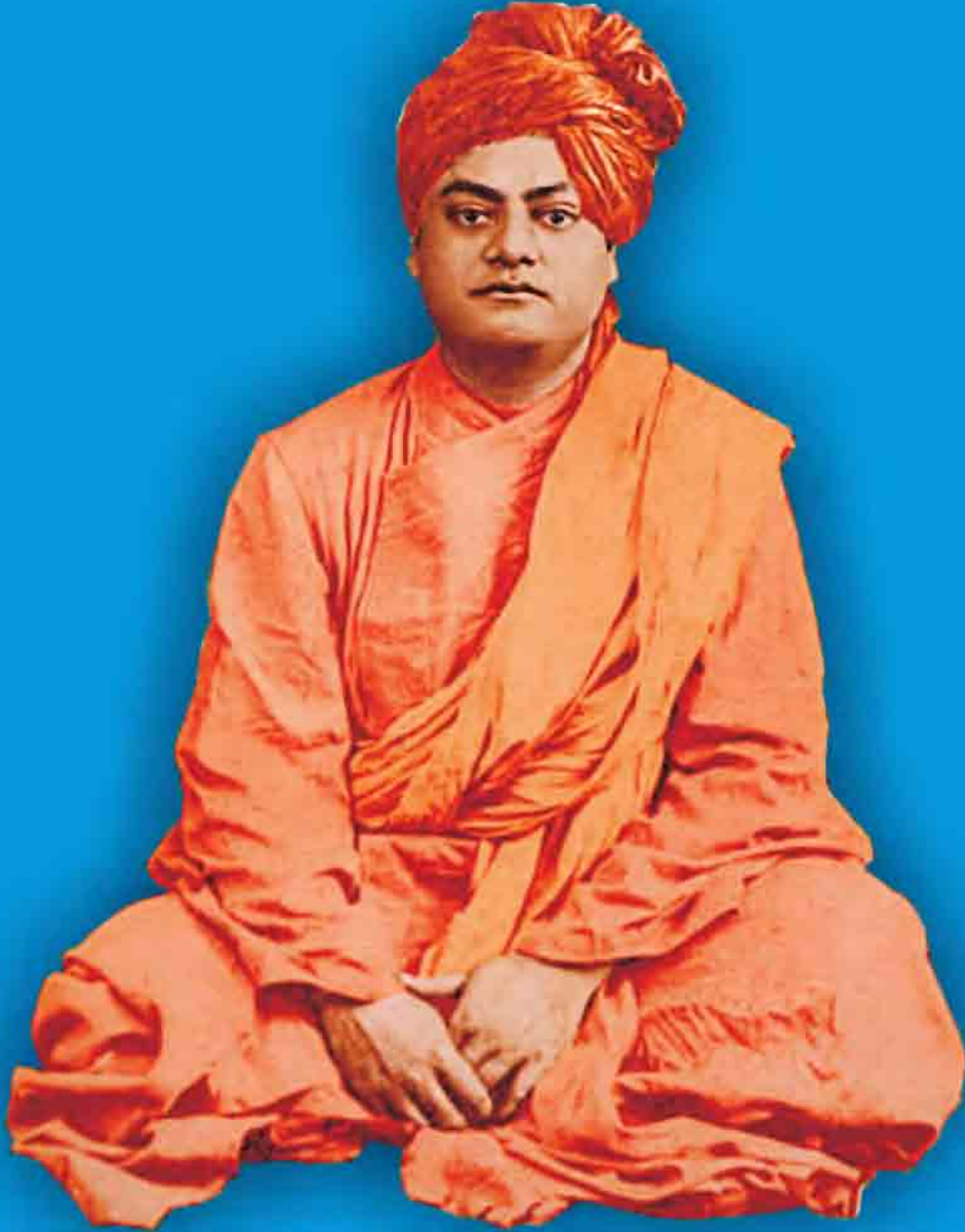
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक २

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

पुरखों की थाती

आत्मनः मुखदोषेन बध्यन्ते शुकसारिका ।
बकास्तु नैव बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ।।९।।

– (अधिक) बोलने के दोष के कारण तोते-मैने बन्धन में पड़ जाते हैं, पर (चुप रहने के कारण) बगुला कभी बन्धन में नहीं पड़ता; अतएव मौन ही परम उपकारी है ।

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते, पूजनीयो न पूज्यते ।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दारिद्र्यं मरणं भयम् ।।१०।।

– जिस स्थान या समाज में दुर्जनों की पूजा होती है और सुजनों का अपमान होता है, इसके फलस्वरूप वहाँ ये तीन चीजें प्रकट होती हैं – दरिद्रता, मृत्यु तथा भय । (महाभारत)

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
परं तत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसानिव्।।११।।

– जैसे करछुल सभी प्रकार के व्यंजनों में डूबी रहने के बावजूद उनके स्वादों से वंचित रह जाती है, वैसे ही विद्वान् लोग चारों वेदों तथा असंख्य शास्त्रों को पढ़कर भी सर्वोच्च ब्रह्म तत्त्व से अनभिज्ञ ही रह जाते हैं ।

अहमेको न मे कश्चित् नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ।।१२।।

– इस संसार में मैं एक हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं किसी अन्य का नहीं हूँ; मैं जिसका होऊँ ऐसा कोई नहीं दिखता और जो मेरा हो ऐसा भी कोई नहीं दिखता ।

अहो दुर्जन-संसर्गात् मानहानिः पदे पदे ।
पावको लोहसंगेन मुद्गरैः अभिहन्यते ।।१३।।

– दुर्जनों का संग करने से व्यक्ति को पग-पग पर उसी प्रकार अपमान झेलना पड़ता है; जिस प्रकार कि लोहे का संग करने के कारण अग्नि को भी बारम्बार हथौड़े से पीटा जाता है ।

अर्धं सज्जन-सम्पर्काद्-अविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैः चतुर्भागं स्वयत्नतः ।।१४।।

– व्यक्ति की अविद्या का आधा भाग सज्जनों के सम्पर्क से नष्ट होता है, उसका चतुर्थ अंश शास्त्रों पर विचार करने से नष्ट होता है और बाकी चौथाई अपने प्रयास से दूर होता है । (योग-वाशिष्ठ, ६/उ.१२/३७)

अज्ञोऽपि तज्ज्ञताम्-एति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्यास-विजृम्भितम् ।।१५।।

– अभ्यास का माहात्म्य तो देखो ! अभ्यास से अज्ञानी भी विद्वान् हो जाता है, क्रमशः पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण भी महान् लक्ष्य को बेध देता है । (वही, ६/उ.६७/२६)

असम्माने तपोवृद्धिः सम्मानाच्च तपःक्षयः।
पूजया पुण्यहानिः स्यात् निन्दया सद्गतिः भवेत्।।१६।।

– अपमान सह लेने से पुण्य-वृद्धि होती है और सम्मान ग्रहण करने से तपःक्षय होता है; प्रशंसित होने से पुण्य-क्षय होता है और निन्दित होने से मुक्ति हो जाती है ।

अनंतशास्त्रं बहुवेदितव्यं
अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ।।१७।।

– शास्त्रों की संख्या अनन्त है, जानने की बातें असंख्य हैं, बाधाएँ अनेक हैं, (पर) जीवन की अवधि सीमित है; (अतः) जैसे हंस जल में मिश्रित दूध को पी लेता है, वैसे ही व्यक्ति को शास्त्र की असार बातें छोड़कर सारभूत बातें जान लेनी चाहिए ।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(जैजैवन्ती–कहरवा)

रामकृष्ण भजिए, साधो, रामकृष्ण भजिए।
यह संसार असार दोषमय, ना इसमें मजिए ।।

विषय-भोग की झूठी आशा,
सुख-सम्पद की अमिट पिपासा,
बन्धन सारे इस जीवन के, तृण समान तजिए ।।

अन्तर की आनन्दराशि तज,
बिसराकर सच्चित् स्वरूप निज,
कष्ट उठाते पग-पग पर नित, क्यों इस भाँति जिए ।।

आए दीनबन्धु करुणामय,
हरते शोक-मोह-भय-संशय,
लेकर शरण चरण-शतदल की, सह 'विदेह' भजिए ।।

– २ –

(पूर्वी–कहरवा)

ठाकुर, अब तो खोलो द्वार,
आया हूँ मैं निलय तुम्हारे,
छोड़ जगत् के विषय असार ।।

क्षण-क्षण बदल रहा यह जीवन,
नश्वर सब धन-यौवन-परिजन,
पाकर इन्हें, तुम्हें खोया था,
खटता रहा सतत बेगार ।।

खड़ा हृदय में आशा लेकर,
होगी कृपा कभी तो हम पर,
अब विलम्ब क्यों करते स्वामी,
दूर करो दुख और विकार ।।

बाहर फैले अन्धकार-भय,
भीतर तुम बैठे हो चिन्मय,
आया शरण 'विदेह' तुम्हारे,
दिखला दो अपना विस्तार ।।

श्रीरामकृष्ण के चरणों में

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

मैं बंगाल में पैदा हुआ था और मैंने अपनी इच्छा से संन्यासी और ब्रह्मचारी का जीवन स्वीकार किया। मेरे जन्म पर मेरे पिता ने मेरी जन्म-पत्री बनवायी थी, किन्तु उन्होंने मुझे कभी नहीं बताया कि उसमें क्या लिखा है। अपने पिता की मृत्यु के कुछ दिन बाद जब मैं अपने घर गया और अपनी माँ के पास रखे हुए कागजों में वह पत्री देखी, तब मुझे पता चला मेरे भाग्य में पृथ्वी पर विचरण करना लिखा है।[१]

बाल्य काल से ही धर्म और दर्शन में मेरी विशेष रुचि थी। हमारे शास्त्रों का उपदेश है कि त्याग ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। मुझमें उस मार्ग का अनुसरण करने के अन्तिम निश्चय की प्रेरणा देने के लिए महान् धर्मगुरु रामकृष्ण परमहंस के दर्शन प्राप्त होने भर की ही देर थी। वे स्वयं इसी मार्ग पर चल रहे थे और उनके जीवन में मैंने अपने सर्वोच्च आदर्श को रूपायित देखा।[२]

मैं जिस सम्प्रदाय का हूँ, उसे संन्यासी की संज्ञा दी जाती है। इस शब्द का अर्थ है – 'विरक्त' – जिसने संसार छोड़ दिया हो, यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है। यहाँ तक कि ईसा के ५६० वर्ष पूर्व अविर्भूत हुए, गौतम बुद्ध भी इसी सम्प्रदाय के थे।... इतना प्राचीन है यह! संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में भी इसका उल्लेख है।...

यह सम्प्रदाय कोई धर्मसंघ – चर्च – नहीं है और न इसके अनुयायी पुरोहित होते हैं। पुरोहितों और संन्यासियों में मौलिक भेद है।... संन्यासियों के पास सम्पत्ति नहीं होती, वे विवाह नहीं करते। उनके ऊपर कोई समाज-व्यवस्था नहीं। एकमात्र बन्धन जो उन पर व्यापता है, वह है गुरु और शिष्य का आपसी सम्बन्ध – और कुछ नहीं। यह भारत की अपनी निजी विशेषता है। गुरु कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जो बस कहीं से आकर मुझे शिक्षा दे दे, उसके बदले में मैं उसे कुछ धन दे दूँ और बात खत्म हो जाय। भारत में यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध वैसी ही प्रथा है, जैसे पुत्र का गोद लेना। गुरु पिता से भी बढ़कर है और मैं सचमुच गुरु का पुत्र हूँ – हर तरह से उनका पुत्र। पिता से भी बढ़कर मैं उनकी आज्ञा का अनुचर हूँ, उनसे बढ़कर वे मेरे सम्माननीय हैं – और वह इसलिए कि जहाँ मेरे पिता ने मुझे केवल यह शरीर मात्र दिया, मेरे गुरु ने मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया और इसलिए वे पिता से बढ़कर हैं। मेरा अपने गुरु के प्रति यह सम्मान आजीवन होता है, मेरा प्रेम चिरजीवी होता है। बस एकमात्र यही सम्बन्ध है, जो बचा रहता है।... कभी-कभी तो गुरु बिल्कुल युवा होता है और शिष्य कहीं उससे अधिक आयुवाला।

एक समय की बात है कि मुझे एक वृद्ध आचार्य मिले – वे बिल्कुल विचित्र थे। उनकी बौद्धिक पाण्डित्य में जरा भी रुचि न थी, कदाचित् ही वे पुस्तकें देखते या उनका मनन करते। पर जब वे कम आयु के थे, तभी से उनके मन में सत्य का सीधा साक्षात्कार कर लेने की बड़ी उग्र आकांक्षा समा गयी। पहले-पहल उन्होंने अपने ही धर्म के साथ प्रयोग किया। फिर उनके मन में आया कि नहीं, अन्य धर्मों के द्वारा भी सत्य को पाया जाय। इस उद्देश्य से वे एक के बाद एक धर्म का अनुष्ठान करने लगे। उस समय तक उनसे जो कुछ कहा जाता, वे ध्यानपूर्वक करते और तब तक उस सम्प्रदाय-विशेष में रहते, जब तक कि उस सम्प्रदाय के विशिष्ट आदर्श का साक्षात्कार नहीं कर लेते। फिर कुछ वर्षों के बाद दूसरे सम्प्रदाय की साधना में लग जाते। सारे सम्प्रदायों का अनुभव कर लेने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये सभी ठीक हैं। किसी में भी वे दोष नहीं देख सके, हर सम्प्रदाय एक ऐसा मार्ग हैं, जिससे लोग एक निश्चित केन्द्र पर ही पहुँचते हैं। तब उन्होंने घोषणा की, "यह कितने गौरव की बात है कि यहाँ इतने अधिक मार्ग हैं, क्योंकि यदि केवल एक ही मार्ग होता, तो शायद वह केवल एक ही व्यक्ति के अनुकूल होता। इतने अधिक मार्ग होने से हर व्यक्ति को 'सत्य' तक पहुँच पाने का अधिक-से-अधिक अवसर सुलभ है। यदि मैं एक भाषा के माध्यम से नहीं सीख सकता, तो

मुझे दूसरी भाषा आजमानी चाहिए।'' आदि आदि। इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक धर्म को सत्य माना।[३]

हजारों लोग इन अद्‌भुत महापुरुष के दर्शन करने तथा उनके उपदेश सुनने के लिये आते थे और मेरे गुरुदेव गाँव की भाषा में ही बोलते थे, पर उनका प्रत्येक शब्द ओजस्वी एवं आलोक से उद्‌भासित होता था।... वे कलकत्ता शहर के पास रहने आये। यह नगर भारत की राजधानी* तथा हमारे देश का सबसे महत्त्वपूर्ण विश्वाविद्यालय-नगर है, जहाँ से प्रतिवर्ष सैकड़ों नास्तिक तथा भौतिकवादी बाहर निकलते हैं – परन्तु फिर भी विश्वविद्यालय के इन्हीं सन्देहवादी तथा अज्ञेयवादी व्यक्तियों में से कितने ही लोग इनके पास आते और इनकी बातें सुनते थे। मैंने भी इन महापुरुष के बारे में सुना और इनके समीप इनके उपदेश सुनने गया। वे एक अत्यन्त साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होते थे और उनमें कोई विशेषता नहीं दिखती थी।[४]

(प्रश्न – जिस दिन आपकी उनसे पहली बार भेंट हुई थी, वह दिन आपको भलीभाँति याद है न?) भेंट दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में हुई थी, उन्हीं के कमरे में। उस दिन मैंने दो भजन गाये थे।... उन्हें भावावेश हो गया था। उन्होंने रामबाबू आदि से पूछा, ''यह लड़का कौन है? अहा, कितना सुन्दर गाता है!'' उन्होंने मुझसे फिर आने के लिए कहा।[५]

भजन तो मैंने गाया। उसके बाद ही श्रीरामकृष्ण सहसा उठे और मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने कमरे के उत्तर की ओर के बरामदे में खींच ले गये। उस समय शीतकाल था। उत्तरी हवा रोकने के लिए बरामदे के खम्भों के बीच-बीच टट्टे घिरे हुए थे। इसलिए वहाँ भीतर जाकर कमरे का दरवाजा बन्द कर देने से कमरे के भीतर या बाहर के किसी व्यक्ति को देखा नहीं जा सकता था। बरामदे में प्रविष्ट होकर श्रीरामकृष्णदेव द्वारा दरवाजा बन्द कर देने पर मैंने सोचा – सम्भवत: एकान्त में मुझे उपदेश देंगे। परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा और किया, वह कल्पनातीत है। सहसा उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया, उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी और पूर्व-परिचित की तरह मुझे परम स्नेह से सम्बोधित करते हुए कहने लगे, ''तू इतने दिनों के बाद आया? मैं तेरे लिए किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहा था, तू सोच भी नहीं सकता? विषयी मनुष्यों के व्यर्थ के प्रसंग सुनते-सुनते मेरे कान जले जा रहे हैं, मन की बात किसी से न कह सकने के कारण मेरा पेट फूलता जा रहा है!'' – आदि आदि कितनी ही बातें कहने और रोने लगे। अगले ही क्षण वे मेरे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और देवता की तरह मेरे प्रति सम्मान दिखाते हुए कहने लगे, ''मैं जानता हूँ प्रभु, आप वही पुरातन ऋषि – नररूपी नारायण हैं, जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए आप पुन: संसार में अवतीर्ण हुए हैं!''

मैं तो उनके इस प्रकार के आचरण से एकदम अवाक् और स्तम्भित रह गया। मन में सोचने लगा, मैं किसे देखने आया हूँ, ये तो एकदम उन्मादी हैं – मैं तो विश्वनाथ दत्त का पुत्र हूँ, मुझसे ऐसी बातचीत! जो हो, मैं चुप रह गया। अपूर्व पागल जो मन में आया, कहते चले गये। थोड़ी देर बाद मुझे वहीं ठहरने के लिए कहकर वे कमरे में चले गये और मक्खन, मिश्री तथा कुछ मिठाइयाँ लाकर अपने हाथ से मुझे खिलाने लगे। मैं कहने लगा, ''मुझे मिठाइयाँ दे दीजिये, साथियों के साथ खाऊँगा।'' परन्तु उन्होंने कुछ नहीं माना और बोले, ''वे लोग भी खायेंगे, तुम तो खा लो।'' इतना कहकर उन्होंने मुझे सब कुछ खिलाकर ही छोड़ा, इसके बाद मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने कहा, ''बोल, तू जल्दी ही एक दिन मेरे पास अकेला आयेगा न?'' उनके उस आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सकने के कारण लाचार होकर ''आऊँगा'' कह दिया और उनके साथ साथ कमरे में आकर अपने साथियों के साथ बैठ गया।[६]

मैं बैठकर उनकी ओर देखने लगा। देखा – उनकी चाल-ढाल, बातचीत और दूसरों से व्यवहार में उन्माद का कोई लक्षण नहीं है। उनकी धर्मचर्चा और भावसमाधि देखकर मुझे ऐसा लगा कि सचमुच ही ये ईश्वरार्थ सर्वत्यागी हैं और जो कहते हैं, स्वयं भी उसका आचरण करते हैं। ''तुम लोगों को जैसे देख रहा हूँ, तुम लोगों से जैसे बातचीत कर रहा हूँ, वैसे ही ईश्वर को भी देखा जाता है और उनसे बात की जा सकती है, परन्तु वैसा चाहता कौन है? लोग स्त्री-पुत्र के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं, विषय और धन के लिए तरसते रहते हैं, परन्तु ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ, कहकर कौन रोता है? उन्हें मैं नहीं पा सका ऐसा कहकर यदि कोई व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तो वे अवश्य ही दर्शन देते हैं'' – उनके मुख से ऐसी बातें सुनकर मेरे मन में आया कि अन्य धर्म-प्रचारकों की तरह वे कल्पना या रूपक का सहारा लेकर व्याख्यान नहीं देते, यथार्थ में ही सब कुछ छोड़कर सम्पूर्ण मन से ईश्वर को पुकारकर जो कुछ प्रत्यक्ष किया है, वही कह रहे हैं। उस समय अपने प्रति उनके पूर्व आचरण के साथ इन बातों का सामंजस्य नहीं बैठा सका। अत: मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ये एक अर्धोन्मादी (monomaniac) होंगे। किन्तु ऐसा निश्चय करने पर भी ईश्वर के लिए उनके अद्भुत त्याग की महिमा मैं भूल न सका। मैं मौन रहकर सोचने लगा, ''उन्माद होने पर भी ईश्वर के लिए वैसा त्याग संसार में विरले ही मनुष्य कर सकते हैं; उन्माद होने पर भी ये महापुरुष महान् पवित्र और महान् त्यागी हैं। इसी कारण मानव-हृदय की श्रद्धा, पूजा और सम्मान पाने के ये यथार्थ अधिकारी हैं।'' इस प्रकार सोचते हुए उस दिन उनकी चरण-

* अब भारत की राजधानी दिल्ली हो चुकी है।

वन्दना कर उनसे विदा लेकर हम कलकत्ता लौट आये।[७]

(प्रश्न – फिर कहाँ मुलाकात हुई?) फिर राजमोहन के यहाँ मुलाकात हुई थी। उसके बाद दक्षिणेश्वर में; उस समय मुझे देखकर भावावेश में मेरी स्तुति करने लगे थे। स्तुति करते हुए कहने लगे, "नारायण ! तुम मेरे लिए शरीर धारण करके आये हो।... मैंने जगदम्बा से कहा था, 'माँ, काम-कांचन का त्याग करनेवाले शुद्धात्मा भक्तों के बिना संसार में कैसे रहूँगा !' " फिर उन्होंने मुझसे कहा, "तूने रात को मुझे आकर उठाया और कहा, 'मैं आ गया।' " परन्तु मैं यह सब कुछ नहीं जानता, मैं तो कलकत्ते के मकान में खर्राटे ले रहा था।[८]

पहले एक बार गाड़ी से जाकर मैं समझ नहीं सका था कि दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी कलकत्ते से इतनी दूर होगी, परन्तु जितना ही चलने लगा, रास्ता समाप्त ही नहीं होता था ! आखिरकार पूछते-पूछते किसी तरह दक्षिणेश्वर पहुँच गया और सीधे श्रीरामकृष्ण के कमरे में उपस्थित हुआ। देखा – वे पहले की तरह छोटी चौकी पर अकेले अपने ही भाव में विभोर बैठे हैं – पास में कोई नहीं था। मुझे देखते ही आनन्द से बुलाकर अपने पास बिठाया। बैठने के बाद ही मैंने देखा – वे न जाने किस प्रकार के भाव में तन्मय हो गये हैं और अस्पष्ट स्वर से कुछ कहते हुए स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए धीरे-धीरे खिसकते आ रहे हैं।

मैंने सोचा – सम्भवत: यह पागल पहले दिन की तरह फिर कोई पागलपन कर बैठेगा। मैं यह सोच ही रहा था कि उन्होंने सहसा मेरे पास आकर अपना दाहिना पैर मेरे शरीर पर स्थापित कर दिया और उसके स्पर्श से क्षण भर में मेरे भीतर एक अपूर्व उपलब्धि होने लगी। आँखें खोलकर मैं देखने लगा कि घर की दीवालों के साथ सारी चीजें घूमती हुई कहीं विलीन होती जा रही हैं और सारे ब्रह्माण्ड के साथ मेरा क्षुद्र 'अहं' भाव सर्वव्यापक महाशून्य में विलीन होता जा रहा है ! उस समय भय से मैं घबड़ा उठा। सोचने लगा – 'अहंभाव' का नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु सामने बहुत समीप आ गयी है ! अपने को सँभाल न पाने के कारण मैं चिल्ला उठा, "अजी, आपने मेरी यह कैसी अवस्था कर डाली? मेरे माँ-बाप जो हैं !"

मेरी बात सुनकर वह अद्‌भुत पागल खिलखिला कर हँस पड़ा और मेरा हाथ पकड़कर छाती को स्पर्श करते हुए कहा, "अच्छा, तो फिर अभी रहने दे। तत्काल ही जरूरत नहीं है। समय आने पर होगा।" आश्चर्य की बात यह है कि उनके स्पर्श से और यह बात कहते ही मेरे अपूर्व अनुभूतियाँ लुप्त हो गयीं। मैं प्रकृतिस्थ हो गया और कमरे के भीतर तथा बाहर सभी पदार्थों को पहले की तरह स्थित देखने लगा।

इस बात को कहने में तो इतना समय लगा, पर असल में तो वह घटना बहुत ही थोड़े समय में हो गयी और उससे मेरे मन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। स्तब्ध होकर मैं सोचने लगा – यह क्या हुआ? एक अद्‌भुत पुरुष के प्रभाव से वह भाव सहसा उपस्थित हुआ और लुप्त भी हो गया। पुस्तक में मेस्मेरिजम (मोहिनी इच्छाशक्ति-संचारण) और हिप्नोटिसम (सम्मोहन-विद्या) के बारे में पढ़ा था। सोचने लगा कि यह भी वैसा ही कुछ होगा। परन्तु यह सिद्धान्त चित्त में ठहर न सका; क्योंकि दुर्बल मन के ऊपर ही प्रभाव डालकर प्रबल इच्छाशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति वैसी अवस्था ला देते हैं, परन्तु मैं तो वैसा नहीं हूँ। बल्कि अब तक अपने को विशेष बुद्धिमान और मानसिक शक्तिसम्पन्न मानता आया हूँ। विशेष गुणयुक्त पुरुष के संग से साधारण व्यक्ति जिस प्रकार मोहित हो जाते हैं और उनके हाथ के खिलौने बन जाते हैं, मैं तो इन्हें देखकर वैसा नहीं हुआ हूँ, बल्कि आरम्भ से ही मैंने इन्हें आधा पागल समझ रखा है। अत: मेरे भीतर इस प्रकार का भाव आने का कारण क्या है? मैं यही सब सोचता-विचारता रहा, पर कुछ निश्चय नहीं कर सका। हृदय में कुछ हलचल-सी मच गयी।

सोच-विचारकर निर्णय किया कि इनकी बात अभी समझ में नहीं आयेगी और दृढ़ संकल्प कर लिया कि यह अद्भुत पागल अपना प्रभाव डालकर भविष्य में कभी मुझे वशीभूत करके वैसा भावान्तर उपस्थित न कर दे।

फिर यह सोचने लगा कि इच्छामात्र से ये पुरुष यदि मेरे जैसे प्रबल इच्छाशक्ति-सम्पन्न चित्त के दृढ़संस्कार युक्त गठन को इस तरह तोड़-फोड़ कर मिट्टी के लोंदे की तरह अपने भाव में ढाल सकते हैं, तो इन्हें पागल ही कैसे समझूँ? किन्तु प्रथम दर्शन के दिन मुझे एकान्त में ले जाकर इन्होंने जिस प्रकार सम्बोधित करते हुए बातें की थीं, उससे इन्हें पागल के अतिरिक्त और क्या मान सकता हूँ? अत: अभी जो उपलब्धियाँ हुईं, उनका कोई कारण मैं नहीं पा सका और न इस शिशुसदृश पवित्र तथा सरल पुरुष के सम्बन्ध में कुछ स्थिर निश्चय ही कर पाया। बुद्धि का उन्मेष होने के अनन्तर खोज तथा तर्कयुक्ति की सहायता से प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति के सम्बन्ध में एक मतामत स्थिर किये बिना मैं कभी निश्चिन्त नहीं हो सका। उसी स्वभाव में आज एक प्रचण्ड आघात प्राप्त हुआ है। इससे हृदय में वेदना उत्पन्न हुई। फलस्वरूप मन में पुन: प्रबल संकल्प का उदय हुआ – जैसे भी हो सके, इस अद्भुत पुरुष के स्वभाव और शक्ति की बात अवश्य ही समझनी होगी।

उस दिन उस प्रकार की विविध चिन्ताओं एवं संकल्पों से मेरा समय बीतने लगा। परन्तु श्रीरामकृष्ण उस घटना के बाद मानो एक दूसरे ही व्यक्ति बन गये और पहले दिन के समान अनेक प्रकार से मुझे प्रेमपूर्वक खिलाने तथा सभी

विषयों में पूर्व-परिचित की तरह आचरण करने लगे। अत्यन्त प्रिय आत्मीय अथवा घनिष्ठ मित्र को बहुत दिनों के बाद सामने पाने पर लोगों में जिस प्रकार का भाव होता है, मेरे साथ भी उन्होंने वैसा ही व्यवहार किया था। खिलाकर, बातचीत कर, प्यार और हास-परिहास करके भी उन्हें मानो तृप्ति नहीं हो रही थी। उनके वैसे प्यार तथा व्यवहार का कारण ढूँढ़ न पाने पर मैं और भी सोचने लगा। क्रमश: सन्ध्या होते देखकर मैंने उस दिन उनसे विदा लेनी चाही, परन्तु उससे वे बहुत ही अप्रसन्न होकर बोले, "बोल, फिर शीघ्र ही आयेगा न।" लाचार होकर मुझे पहले दिन की तरह वचन देकर ही लौटना पड़ा।[९]

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने दक्षिणेश्वर के बगीचे में मुझे स्पर्श किया था। उनके स्पर्श करते ही मैंने देखा कि घर-बार, दरवाजा-बरामदा, पेड़-पौधे, चन्द्र-सूर्य – सभी मानो आकाश में लीन हो रहे हैं। धीरे-धीरे आकाश भी न जाने कहाँ विलीन हो गया। उसके बाद जो प्रत्यक्ष हुआ था, वह बिल्कुल याद नहीं है; परन्तु हाँ, इतना याद है कि वैसा परिवर्तन देखकर मुझे बड़ा भय लगा था। मैंने चीत्कार करते हुए श्रीरामकृष्ण से कहा था, "अरे, आप मेरा यह क्या कर रहे हैं जी, मेरे माँ-बाप जो हैं !' इस पर श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए "तो अभी रहने दे" कहकर फिर स्पर्श किया। उस समय धीरे-धीरे फिर देखा – घर-बार, दरवाजा-बरामदा – जो जैसा था, ठीक वैसा ही है। कैसा अनुभव था ! एक अन्य समय – अमेरिका में भी एक तालाब के किनारे ठीक वैसा ही हुआ था।... जब रोग के प्रभाव से नहीं, नशा पीकर नहीं, तरह तरह के दम लगाकर भी नहीं, वरन् स्वाभाविक मनुष्य की स्वस्थ दशा में यह स्थिति होती है तो उसे मस्तिष्क का विकार कैसे कहा जा सकता है, विशेषत: जब उस प्रकार की स्थिति प्राप्त करने की बात वेदों में भी वर्णित है और पूर्व आचार्यों तथा ऋषियों के आप्त वाक्यों में भी मिलती है। मुझे क्या अन्त में तूने विकृत-मस्तिष्क ठहराया? ... जान लेना, यह एकत्व ज्ञान होने पर – जिसे तुम्हारे शास्त्र में ब्रह्मानुभूति कहा गया है – जीव को फिर भय नहीं रहता; जन्म-मृत्यु का बन्धन छिन्न हो जाता है। इन निन्दनीय काम-कांचन में बद्ध रहकर जीव उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। उस परमानन्द के प्राप्त होने पर, जगत् के सुख-दु:ख से जीव फिर अभिभूत नहीं होता।...

उस परमानन्द को प्राप्त करने की इच्छा आब्रह्म-स्तम्ब तक सभी में पूर्ण रूप से मौजूद है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म सभी के हृदय के भीतर है। तू भी वही पूर्ण ब्रह्म है।... इस मोह के दाँव-पेंच में पड़कर, मार खा-खाकर क्रमश: अपने स्वरूप पर दृष्टि पड़ेगी। कामना है, इसलिए मार खा रहा है और आगे भी खायेगा। बस, ऐसे ही मार खा-खाकर अपनी ओर दृष्टि पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति की किसी-न-किसी समय अवश्य ही पड़ेगी। अन्तर इतना ही है कि किसी की इसी जन्म में और किसी की लाखों जन्मों के बाद पड़ती है।[१०]

मेरे प्रति स्नेह के कारण वे अपने स्वयं पर ध्यान ही नहीं रखते थे। यह देखकर कभी कभी मैं उनके प्रति कठोर वाक्य-प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करता था। कभी कभी मैं यह भी कहता था कि पुराण में लिखा है – राजा भरत दिन-रात अपने पालित हिरण की बात सोचते हुए मरने के बाद हिरण हो गये थे। यदि यह बात सत्य है, तो आपको मेरे बारे में इतनी अधिक चिन्ता करने का परिणाम सोचकर सावधान हो जाना चाहिए।

बालक-सदृश सरल श्रीरामकृष्ण देव मेरी बातों को सुनकर गहरी चिन्ता में डूब गये थे और उन्होंने कहा था, "तू ठीक कहता है, ठीक ही तो है, तो फिर क्या होगा, मैं तो तुझे देखे बिना रह नहीं सकता।"

अत्यन्त दु:खी होकर वे माँ (जगदम्बा) को वह बात सूचित करने गये और कुछ क्षणों के बाद हँसते हुए लौट आये और बोले, "अरे मूर्ख, मैं तेरी बात नहीं मानूँगा। माँ ने कहा, तू उसको (नरेन्द्र को) साक्षात् नारायण समझता है, इसीलिए प्यार करता है; जिस दिन उसके (नरेन्द्र के) भीतर नारायण को नहीं देखेगा, उस दिन उसका मुख देखने की भी तुझे इच्छा न होगी।" इस प्रकार मैंने उन्हें इससे पहले जितनी बातें समझायी थीं, वे सब श्रीरामकृष्णदेव ने उस दिन एक ही बात से उड़ा दी।[११]

एक दिन उन्होंने कहा था, "तू यदि चाहे तो तुझे हृदय में कृष्ण दिखायी दें।" मैं बोला, "मैं कृष्ण-विष्णु नहीं मानता।"[१२]

मेरी बात पर वे इतना विश्वास करते थे कि जब मैंने कहा, "आप रूप आदि जो कुछ देखते हैं, यह सब मन की भूल है," तब उन्होंने माँ (काली) के पास जाकर पूछा, "माँ, नरेन्द्र इस तरह कह रहा है, तो क्या यह सब भूल है?" फिर उन्होंने मुझसे कहा, "माँ ने कहा है, यह सब सत्य है।" ...

वे कहते थे, "तेरा गाना सुनने पर (छाती पर हाथ रखकर) इसके भीतर जो हैं, वे साँप की तरह फन खोलकर स्थिर भाव से सुनते रहते हैं।"[१३]

❖ **(क्रमशः)** ❖

सन्दर्भ-सूची – **१.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. २९०; **२.** वही, खण्ड ४, पृ. २२७-२८; **३.** वही, खण्ड १०, पृ. ७-८; **४.** वही, खण्ड ७, पृ. २५९; **५.** श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड २, पृ. १२४७; **६.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, सं. २००८, खण्ड २, पृ. ७९६; **७.** वही, खण्ड २, पृ. ७९६-९७; **८.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. १२४७; **९.** लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८१२-१४; **१०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. १३२-३३; **११.** लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८३८; **१२.** वचनामृत, खण्ड २, पृ. १२४३; **१३.** वही, खण्ड २, पृ. १२४८-४९

साधना, शरणागति और कृपा (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

प्रश्न उठता है कि भक्ति सरल है या कठिन? यों कहें तो बहुत सरल है, परन्तु सरलता ही उसकी सबसे बड़ी कठिनाई है। जब भक्ति इतनी सरल है, तब तो संसार में सबसे अधिक भक्त ही होने चाहिये, परन्तु रामायण में एक बड़ी विचित्र बात कह दी गई। एक ओर तो कहा, भक्ति सरल है और दूसरी ओर पूछा गया – भक्त? तो कहा – दुर्लभ है। यह तो बड़ी विरोधी बात हो गई। भक्त कितने कम हैं, इसके आँकड़े को पढ़कर कौन आतंकित नहीं हो जायेगा। पार्वतीजी ने एक क्रम बताया – हजार व्यक्ति में एक धर्मात्मा होता है, दस हजार धर्मात्माओं में कोई एक वैराग्यवान होता है। उन करोड़ों वैराग्यवानों में कोई एक ज्ञानी होता है। उन हजारों-लाखों ज्ञानियों में कोई एक विज्ञानी होता है। और आगे कोई ब्रह्मलीन विज्ञानी होता है। परन्तु सबसे अधिक दुर्लभ कौन है? तो उन्होंने कहा – सबसे दुर्लभ भक्त है –

सबते सो दुर्लभ सुरराया ।
राम भगति रत, गत मद माया ।। ७/५४/८

भक्ति सरल है और भक्त दुर्लभ है – इसका क्या अर्थ हुआ? सरल है तो दुर्लभ क्यों है? उसका अभिप्राय यह है कि भक्ति सरल तो है, पर वह इतनी सरल है कि व्यक्ति को उस सरलता पर विश्वास ही नहीं होता। यदि कोई कहे कि इतना जप करने पर ये देवी प्रसन्न होती हैं, ये देवता प्रसन्न होते हैं और यह आशीर्वाद या यह सिद्धि मिलती है, तो व्यक्ति सरलता से मान लेगा। परन्तु यदि कह दिया जाय कि भगवान तो बिना कारण ही कृपा करते हैं। यदि बिना कारण ही, बिना कुछ किये ही कृपा करते हैं, तब तो बहुत अच्छा हुआ, अब कुछ करता ही नहीं। जैसा कि लोग कहते हैं कि अपने किये कुछ नहीं होता। तो अपने किये कुछ नहीं होता, इस वाक्य के निकलने से पहले कितना कुछ करना पड़ता है, इस पर क्या आपका ध्यान गया? यह बात तो उसी के मुँह से निकलेगी, जो करते-करते थक गया हो और तब उसको लगा हो कि अपने किये कुछ नहीं होता।

भक्ति अत्यन्त सरल तो है, पर जैसे व्यंग्य में कहते हैं – किसी ने महात्माजी से कहा – ऐसा मंत्र दीजिए कि सारी सिद्धि आ जाय। महात्माजी बोले – बिलकुल सरल है। हम तुम्हें मंत्र बता देते हैं, तुम जप करो, सिद्धि मिल जायेगी। – कितने दिन में? बोले – वह तो एक दिन में मिल जायेगी। आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा – बस, एक शर्त है कि जप करते समय बन्दर का ध्यान न आने पावे। अब वह बेचारा जब भी जप करने बैठता, तो बन्दर का ही ध्यान सबसे पहले आता। जप इतना कठिन हो गया कि वह थक गया, उसे हमेशा इसी बात की चिन्ता रहती कि बन्दर का ध्यान न आये और उसके ध्यान में हमेशा बन्दर की ही याद बनी रहती।

भक्ति को बड़ी सरल तो कह दिया, पर एक वाक्य जोड़ दिया। और वही सबसे बड़ा संकट हो गया। – क्या? बोले – बिना विश्वास के भक्ति नहीं होती है –

बिनु बिश्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ।। ७/९०

मूल सूत्र कि करने से कुछ होता है, इसे मानने में कोई कठिनाई नहीं है, परन्तु भगवान अकारण कृपालु हैं, उनकी कृपा के लिये कुछ करना अपेक्षित नहीं है – यह वाक्य कितना सीधा-सा है? भगवान ने तो बता दिया कि भक्ति में क्या कठिनाई है? – भक्ति में न योग की आवश्यकता है न यज्ञ की न जप की न तप की न उपवास की –

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा ।
जोग न मख जप तप उपवासा ।। ७/४६/१

तब तो छुट्टी हो गई। तो भक्ति के लिये क्या कुछ नहीं चाहिये? बोले – कुछ नहीं, बस, इतना ही – भक्त वही है जिसका स्वभाव सरल हो, जिसके मन में कुटिलता न हो –

सरल सुभाव न मन कुटिलाई ।। ७/४६/२

सरल स्वभाव होना और कुटिलता छूट जाना – कितनी छोटी और कितनी बड़ी शर्त है। तप करना सरल है, पर सरल स्वभाव होना और कुटिलता छूट जाना बहुत कठिन है। सरलता की कठिनाई यही है कि व्यक्ति जिस तरह का अभ्यस्त है, उस जीवन में यह कल्पना भी कर पाना उसके लिये असम्भव है कि प्रभु की कृपा अकारण होती है। यह विश्वास सर्वत्र बार-बार संकेत के रूप में आता है। भक्ति सरल तो है, वह तो अत्यन्त सरल है, परन्तु इतना सरल है कि व्यक्ति का मन उस पर विश्वास नहीं कर पाता। गोस्वामीजी

ने दोहावली रामायण में एक बड़ा सुन्दर दोहा लिखा है –

राम गरीब निवाज को राज देत जन जानि ।
तुलसी मन परिहरत नहिं घुरबिनिया कै बानि ।।

जहाँ पर कूड़ा-करकट डाला जाता है, उसको घूरा कहते हैं। किसी को आदत पड़ गयी थी कि वह घूरे का एक-एक दाना उठाकर लाता था और उसी से पेट भरता था। एक दिन किसी ने उसको भरपेट भोजन कराया। भोजन कराने के बाद उस व्यक्ति ने सोचा कि देखें, अब कहाँ जाता है। देखा कि वह तो घूरे पर जाकर दाने बीन रहा है। खिलानेवाले ने कहा – भाई, जब पेट भर गया, तो भी क्यों बीन रहे हो? उसने उत्तर दिया – तुमने आज तो खिला दिया, मगर कल क्या होगा? बस, बात वहीं समाप्त हो गई।

सबसे बड़ी बात यह है कि यदि विश्वास हो, तो साधना बहुत नहीं करना पड़ता है। साधना कठिन होते हुए भी, कठिन नहीं है। योग में कठिनाइयाँ हैं, लेकिन किसी ने कह दिया कि भक्ति में अन्य कुछ नहीं करना है, केवल विश्वास चाहिये। भगवान अकारण कृपामय हैं – बस, इसमें विश्वास करना है। गीता में भी भगवान शान्ति पाने के अनेक उपाय बताते हैं। एक उपाय तो उन्होंने बड़ा सरल बता दिया। बोले – व्यक्ति अगर केवल इतना जान ले कि मैं समस्त प्राणियों का सुहृद हूँ, तो उसको शान्ति मिल जायेगी –

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। ५/२९

कितना सरल, पर कितना कठिन है! भगवान समस्त प्राणियों के सुहृद हैं – यह जान लेना और यह विश्वास कर पाना कितना कठिन है! इसीलिये भक्ति सरल होते हुये भी कठिन है। रामायण में कागभुशुण्डिजी के साथ संवाद में गरुड़जी द्वारा भक्ति साधना में समस्या के विषय में पूछने पर उन्होंने भी कृपा से ही श्रीगणेश किया। नारद-भक्ति-सूत्र में भी भगवान की भक्ति के पहले उसके महात्म्य-ज्ञान की आवश्यकता बतायी गयी है – **सा तु माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वम्**।

यहाँ पर कागभुशुण्डि जी भक्ति का क्रम बताते हैं। यहाँ वे प्रारम्भ कृपा से ही करते हैं –

राम कृपा बिनु सुनु खगराई ।
जानि न जाइ राम प्रभुताई ।। ७/८९/६

भक्ति क्या है? मान लीजिये कि एक नदी है, जिसमें आप गोता लगावें और उसके बाद पानी से बाहर निकलें, तो आपका शरीर भीगा हुआ दिखाई देगा। कपड़े भीगे हुए दिखाई देंगे, लेकिन पाँच मिनट बाद देखेंगे, तो शरीर ज्यों का त्यों है, पानी सूख गया है। भक्ति की सरलता का आपको कितना आनन्द मिल रहा था, आप लोग कितना भीग गये होंगे। भगवान की भक्ति बड़ी सरल है, विश्वास से ही सब कुछ हो जाता है। परन्तु यह बात कितनी देर टिकने वाली है! गोस्वामीजी ने कहा – जल के द्वारा जो चिकनाई होती है, वह क्षणिक होती है। यदि चिकनाई तेल के द्वारा होगी, तो वह स्थाई होगी। तेल को संस्कृति में स्नेह कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की बात सुनकर व्यक्ति को आनन्द आ गया, यह जल की चिकनाई है; और स्नेह (तेल) की चिकनाई तब होगी, जब व्यक्ति पहले भगवान की प्रभुता को जानेगा, फिर उस पर विश्वास होगा और विश्वास के बाद प्रीति होगी। फिर उस प्रीति के प्रभाव से भक्ति होगी।

जानें बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई ।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई ।। ७/८९/७-८

सुग्रीव की चर्चा हो रही थी। भगवान स्वयं उनके पास आये, इससे बढ़कर कृपा का क्या दृष्टान्त होगा? सुग्रीव ने उन्हें पाने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि दूर से भगवान को आते देखकर उन्हें तो यही भय लगा कि कहीं ये मुझे मारने तो नहीं आ रहे हैं! यदि अकेले होते, तो वही करते, जो आजीवन करते रहे। हर समस्या से भाग निकलना ही सुग्रीव का स्वभाव है। बहुत-से लोगों का ऐसा ही स्वभाव होता है। पर उनमें एक ही विशेषता थी और वह यह कि उनको सत्संग प्राप्त था। भागने की योजना तो बनी, परन्तु सोचा – क्यों न हनुमानजी से सलाह ले ले। उनसे बोले, "इन दो राजकुमारों को देखकर तो यही लग रहा है कि बालि ने भेजा है, मुझे मारने आ रहे हैं, परन्तु सम्भव है कि ऐसा न हो। आप ही इसका ठीक-ठीक पता लगा सकते हैं। आप जाकर थोड़ा देख लीजिये।" साथ ही यह भी कहा – यदि पता चले कि ये बालि के भेजे हुए हैं, तो वहीं से संकेत कर दीजियेगा, यहाँ तक लौटकर बताने की जरूरत नहीं। – क्यों? बोले – यदि तुम वहाँ से बताने आओगे कि हाँ, इन्हें बालि ने भेजा है और पीछे-पीछे वे भी पहुँच गये, तो ... ! अत: तुम जैसे ही संकेत करोगे, मैं भाग निकलूँगा –

धरि बटु रूप देखु तैं जाई ।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई ।।
पठए बालि होहिं मन मैला ।
भागौं तुरत तजौं यह सैला ।। ४/१/४-५

जो व्यक्ति इतना डरपोक और इतने भगोड़े प्रकृति का हो, जिसे भगवान से भी शत्रुता की आशंका हो, भगवान उसके पास स्वयं आए, स्वयं मित्रता की। मित्रता के बाद आश्वासन दे दिया – बस, अब तुम निश्चिन्त हो जाओ, मैं एक ही बाण से बालि का वध करूँगा –

सखा सोच त्यगहु बल मोरें ।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें ।। ४/७/१०

परन्तु वे तत्काल निश्चिन्त थोड़े ही हो गये। भगवान बोले – विश्वास करो। परन्तु उसने तुरन्त भगवान से कहा – आप

कह तो रहे हैं पर मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। – क्यों? बोले – महाराज, समस्या तो बालि है और आप बालि को नहीं जानते, वह बहुत ही बलवान है। उसके सामने कोई योद्धा टिक ही नहीं सकता –

बालि महाबल अति रनधीरा ।
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए ।। ४/७/११-१२

सुग्रीव की यह कैसी विडम्बना है! परन्तु यदि आप गहराई से देखेंगे, यह सुग्रीव की ही नहीं, हम सबकी ठीक यही प्रकृति है। भगवान की महिमा चाहे जितनी भी सुन लें, भगवान के विषय में चाहे जितना भी जान लें, परन्तु मन में कहीं-न-कहीं तो आशंका बनी ही रह जाती है।

प्रभु बड़े उदार और कृपालु हैं। वे सुग्रीव को झिड़क सकते थे कि यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है तो तुम जाओ, मैं क्या करूँ? परन्तु उन्होंने उदारता से पूछ दिया – तुम्हें विश्वास कैसे होगा? सुग्रीव बोला – "महाराज, दुन्दुभी नाम का एक दैत्य था। बालि ने उस दुन्दुभी का वध किया था। उसकी हड्डी का विशाल ढेर पड़ा हुआ है। मैंने सुना है कि उस दुन्दुभी राक्षस के हड्डियों के ढेर को जो अपने हाथ से उठाकर सौ योजन दूर फेंक दे, वही बालि को मार सकता है। और ये सात ताड़ के वृक्ष हैं। अगर कोई ऐसा योद्धा हो, जो एक ही बाण से इन सातों ताड़-वृक्षों का भेदन कर दे, तो वह बालि का वध कर सकता है। क्या आप परीक्षा देंगे?"

अब जीव ईश्वर की परीक्षा ले। पर यह ईश्वर की उदारता है। रावण परीक्षा लेने आया, तो परीक्षा नहीं दी। वह नकली मृग लेकर आया था। सोचा कि यदि ईश्वर होंगे, तो पहचान लेंगे। नहीं पहचान सकेंगे, तो समझ लूँगा कि ईश्वर नहीं हैं। भगवान ने उसे परीक्षा बिल्कुल नहीं दी। रावण ने उन्हें फेल कर दिया – यह तो बिल्कुल भी ईश्वर नहीं है। जब भगवान उस मृग के पीछे भागने लगे, तो रावण ने सोचा कि इसको ईश्वर तो कौन कहे, यह आदमी भी बुद्धिमान नहीं है। सोने के मृग के पीछे भागने वाला क्या ईश्वर हो सकता है? अरे, एक बुद्धिमान व्यक्ति भी सोचता है कि क्या कभी सोने का मृग होता है? यह तो कोई आसुरी माया ही हो सकती है। इस तरह जब भगवान को परीक्षा नहीं देनी होती है, तो नहीं देते है। बड़ी मीठी बात है। रावण को परीक्षा नहीं दी, परन्तु जब सुग्रीव ने परीक्षा की बात कही, तो तुरन्त तैयार हो गये। दोनों में क्या अन्तर है? रावण अपनी बुद्धिमत्ता का अहंकार लेकर आया था और सुग्रीव की महान् सन्त हनुमानजी की कृपा से शरणागति हुई थी। उन्होंने ही प्रभु से मिलाया और प्रभु से मैत्री करायी थी। ऐसी स्थिति में प्रभु को लगता है कि इसका संशय रावण के जैसा नहीं है। यह एक बड़े महत्त्व का सिद्धान्त है – बुद्धि का अहंकार लेकर संशय एक बात है और इस तरह का भयजन्य संशय, यह दूसरे प्रकार का है। संशय की प्रवृत्तियों में भी भेद होता है। इसलिये भगवान ने कहा – हम तुम्हें विश्वास दिलाने के लिये परीक्षा देंगे।

भगवान ने मुस्कुराते हुए उस दुन्दुभी की अस्थि को अपने चरण के अंगूठे से न जाने कितना दूर फेंक दिया और एक बाण चलाकर उन्होंने सात वृक्षों का भेदन कर दिया। प्रभु ने अपनी महिमा का दर्शन करा दिया और उसे देखकर सुग्रीव के मन में विश्वास हो गया –

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती ।
बालि बधब इन्ह भइ परतीती ।। ४/७/१३

कई लोग विश्वास को लेकर भी इस भ्रम में पड़ जाते हैं। विश्वास का टिकना और न टिकना भी जीव के बस में नहीं है। विश्वास का टिकना तो शुद्ध एकमात्र ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर है। कौन कह सकता है कि मेरा विश्वास कभी नहीं डिगेगा। मेरा विश्वास अडिग है। यह असम्भव है। इसलिये सुग्रीव ने कहा कि अब विश्वास हो गया।

रामायण के जो विविध पात्र हैं, उनके चरित्र पर आप दृष्टि डालें, तो एक अनोखी बात मिलेगी – उनका विश्वास किसी भी समय डगमगा गया या हिल गया। अलग-अलग व्यक्तियों के जीवन में अलग-अलग प्रवृत्ति और अलग-अलग कारण हैं। सुग्रीव को जब विश्वास हुआ, तो वे बोले – महाराज, अब मुझे विश्वास हो गया कि आप बालि का वध कर सकते हैं। परन्तु प्रभु तो बड़े कौतुकी हैं। बोले – अब तुम चलकर बालि को चुनौती दो। पर अचानक सुग्रीव को क्या सूझा!

शास्त्रों से, सत्संग में जो भी सुनें, उसमें से बस उतना ही मानिये, जितना आपके लिये उचित और उपयोगी है। सुग्रीव बड़े विद्वान् तो थे ही, जिनको हनुमानजी महाराज का संग प्राप्त हो, उनका क्या कहना, तो उन्होंने कहा – प्रभो, अब तो मेरा विचार बदल गया। – क्या? बोले – अब आप मुझ पर कृपा कीजिए। प्रभु ने कहा – क्या मैं कृपा नहीं कर रहा हूँ? बोले – जैसी कृपा मैं कहता हूँ, वैसी कृपा कीजिये। और सबसे ऊँची बात कही। बोले – आपने कहा कि मैं बालि को मारूँगा, तुम्हें राज्य दिलाऊँगा, उस तरह की कृपा मुझे नहीं चाहिये। – तब कैसी चाहिये? बोले – आप ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सब कुछ छोड़कर आपका भजन करूँ –

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती ।
सब तजि भजनु करौं दिन राती ।। ४/७/२१

इसके साथ ही भगवान के सामने पूरा भाषण दे डाला। ईश्वर श्रोता बन गया और जीव व्याख्यान दे रहा है। सुग्रीव ने कहा – महाराज, शत्रु-मित्र, सुख-दु:ख – यह सब तो माया का खेल है; पारमार्थिक सत्य थोड़े ही है; अत: मैं सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई को छोड़कर आपकी सेवा करूँगा –

सुख सम्पति परिवार बड़ाई ।
सब परिहरि करिहऊँ सेवकाई ।।

सत्रु मित्र, सुख दुख जग माहीं ।
माया कृत परमारथ नाहीं ।। ४/७/१६, १८

बस, यही कृपा कीजिये, मुझे और कुछ नहीं चाहिये। फिर इससे भी आगे बढ़कर दावा कर दिया – वैसे आपकी कृपा मुझ पर हो भी गई है। – कैसे? बोले – आपकी कृपा से मेरे मन की चंचलता बिल्कुल समाप्त हो गई है –

नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला ।। ४/७/१५

प्रभु मन ही मन खूब हँसे। ऊपर से भी हँस पड़े। यहाँ भी वही सूत्र है। सुग्रीव का एक वाक्य भी ऐसा नहीं है, जो सिद्धान्ततः सत्य न हो। अन्त में भगवान जब भुशुण्डिजी के सामने भक्ति का निरूपण करते हैं, तो भुशुण्डिजी ने पूछा – अब मैं क्या करूँ? तो भगवान यही बोले – "सब छोड़कर मेरा भजन करो। तुम्हें और कुछ करना ही नहीं है। मेरा भक्त वही है, जो सब कुछ छोड़कर मेरी भक्ति करता है।" यहाँ सुग्रीव भी भगवान से यही कहते हैं – "मैं सब कुछ छोड़कर आपकी भक्ति करना चाहता हूँ। सुख, सम्पत्ति परिवार, बड़ाई – यह सब माया का खेल है।" शास्त्रों में भी यही कहा गया है। लक्ष्मण भी निषादराज को यही उपदेश देते हैं –

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ।।२/९२

लक्ष्मणजी ने जो बात कही, वही सुग्रीव ने कही। शास्त्रों में सर्वत्र कहा गया है कि भगवान की सबसे बड़ी कृपा यही है कि उनका भजन होने लगे। रामायण में भी बार-बार यही बात कही गई है। पार्वतीजी से भगवान शंकर कहते हैं –

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना ।
ताहि भजनु तजि भाव न आना ।। ५/३४/३

किन्तु भगवान ने वैसा नहीं किया। वे खूब हँसे –

सुनि बिराग संजुत कपि बानी ।
बोले बिहँसि रामु धनु पानी ।। ४/७/२२

जो बात हँसने की है, उसमें हँसे तो और बात है, परन्तु वैराग्य-युक्त बात सुनकर प्रभु क्यों हँसे? इसे दृष्टान्त के द्वारा देखें – मान लीजिये कि कोई प्राणायाम का अभ्यास कर रहा हो, विधिवत पद्मासन लगाकर प्राण को नियमित करने की चेष्टा करने लगा और उसके बगल में आकर उसका छोटा बच्चा आकर ठीक उसी प्रकार से बैठ गया। उसने भी नाक पर उँगली रख ली। लग रहा है कि वह भी प्राणायाम कर रहा है। परन्तु जब उस पर पिता की दृष्टि जायेगी, तो वह यह सोचकर हँस पड़ेगा कि अच्छा नाटक कर लेता है। अच्छा अभिनय करता है। सुग्रीव ने जो बातें कहीं, उससे प्रभु को लगा – हाँ, इसकी स्मरण-शक्ति अच्छी है !

एक बड़े अच्छे महात्मा थे, उनकी आलोचना की पद्धति भी अनोखी होती थी। वे कभी कठोर शब्दों में किसी की निन्दा करते नहीं थे। उनसे किसी वक्ता की कथा के बारे में पूछा गया – कैसी लगी? तो बोले – बड़ी विद्वत्तापूर्ण थी, परन्तु लगता है कि साधु समाज में कभी कथा नहीं कही है।

लगता है सुग्रीव कितनी ऊँची बात कह रहे हैं, पर प्रभु को लगा कि इसकी स्मरण-शक्ति अच्छी है। इसीलिये प्रभु ने प्रशंसा भी यही कहकर किया – तुमने जो कुछ कहा वह सब बिल्कुल सत्य है। (पर उनका अगला वाक्य बड़ा विचित्र था।) लेकिन मित्र, मैंने जो कहा यह भी तो झूठ नहीं होगा –

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई ।
सखा बचन मम मृषा न होई ।। ४/७/२३

सुग्रीव प्रभु के वाक्य की गहराई नहीं समझ सके। उन्हें लगा मानो वे भगवान पर कोई अहसान कर रहे हों, बोले – "महाराज, मेरी तो भेदबुद्धि मिट गई है। शत्रु-मित्र, सुख-दुख – ये सब तो बस मायाकृत है। मन भी बिलकुल शान्त हो गया है, पर आपके मुँह से तो निकल गया है; अतः यदि आपको अपने वचन की चिन्ता है, तो ठीक है। मैं आपके लिये बालि को चुनौती दे देता हूँ।" मानो भगवान सुग्रीव पर नहीं, अपितु सुग्रीव ही भगवान पर कृपा कर रहे हों।

सुग्रीव ने बालि को चुनौती भी दे दी। बालि जब निकलने लगा तो तारा ने चरण पकड़ लिया और कहा – यह गर्जना किसकी है? – सुग्रीव की। – "अरे, वह सुग्रीव जो निरन्तर आपके डर से काँपता रहता था, भागता फिरता था, आज गरज रहा है, उसके पीछे कुछ-न-कुछ बात तो होगी। तुम्हें पता नहीं है कि सुग्रीव ने जिनसे मित्रता की है, वे बड़े बलवान हैं, काल को भी जीतने में समर्थ हैं। इसलिये आप मत जाइये।" यह सुनकर बालि ने जो कुछ कहा, वह भी वेदान्त और भक्ति के अनुकूल ही था। एक वाक्य वेदान्त के अनुकूल था और दूसरा भक्ति के अनुकूल था। वह हँसने लगा। – "तुम उन्हें मनुष्य कहती हो? नहीं, वे मनुष्य नहीं, ईश्वर हैं। परन्तु अरे डरपोक पत्नी, शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर तो समदर्शी हैं। यदि वे ईश्वर और समदर्शी हैं, तो वे मुझमें और सुग्रीव में भेद कैसे करेंगे !" यह ज्ञान की भाषा थी। अगले वाक्य में भक्ति की बात कही – अच्छा, तुम कहती हो कि वे मुझे मार देंगे। तो भी इसमें चिन्ता की क्या बात ! यदि कदाचित् वे मुझे मार भी दें, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा –

कह बालि सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ ।
जौं कदापि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ।। ४/७

कितनी ऊँची भाषा है? ईश्वर समदर्शी हैं और यदि वे मुझे भी मार देंगे, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा – ज्ञान और भक्ति की पराकाष्ठा। गोस्वामीजी से कहा गया, बालि महोदय को कोई उपाधि तो दीजिये। उन्होंने एक शब्द में ही बेचारे बालि को वहाँ पहुँचा दिया – यह ज्ञानी नहीं है महा अभिमानी है –

अस कहि चला महा अभिमानी ।। ४/८/१

जिसकी अनुभूति नहीं हो रही है, जिस पर आस्था नहीं है, उसे केवल वाणी के द्वारा कहना, यह तो केवल अपनी वाणी और बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन है। प्रदर्शन अभिमान की प्रवृत्ति है, वह जो कुछ कह रहा है, वह अभिमानी की भाषा है। एक अभिमानी और एक कायर दिखाई देनेवाला – दोनों नकली भाषा बोल रहे हैं। सही भाषा नहीं बोल रहे हैं।

इसकी एक ही कसौटी है। जो ईश्वर को सचमुच ही समदर्शी मानता है, तो उसको प्रतीत होगा कि ईश्वर सर्वव्यापी है और उसके जीवन में समदर्शित्व का उदय हो जायेगा –

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।।
७/११२ (ख)

यदि बालि को ऐसा बोध हो रहा है कि ईश्वर सबमें समान रूप से विद्यमान हैं, तो उसके जीवन में सुग्रीव से लड़ने की बात क्यों आती? वह भी समदर्शी बन जाता। आगे वह कहता है – भगवान यदि मुझे मारें, तो भी मैं सनाथ हो जाऊँगा। इस प्रकार दोनों ही नकली भाषा बोल रहे हैं। बालि जो कह रहा है, वह उसकी अनुभूति नहीं है और सुग्रीव भी जो कह रहा है, वह भी उसके पाठशाला की कक्षा की बात नहीं है। तब भगवान ने एक कौतुक किया। बालि निकला और आते ही सुग्रीव पर जोर का मुक्का चलाया –

मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।
तब सुग्रीव बिकल होइ भागा।। ४/८/३

एक ही मुक्का मारा ! पर उस एक ही मुक्के में केवल सुग्रीव ही नहीं, उसका ज्ञान-वैराग्य भी भाग खड़ा हुआ। तब सुग्रीव भगवान राम के पास आकर उलाहना दी – प्रभो, आपने तो कहा था कि मैं एक ही बाण से उसे मार डालूँगा। परन्तु आपने तो मुझे पिटवा दिया। इस पर प्रभु ने रहस्यमय भाषा में कहा – तुम दोनों भाई दिखने में एक समान हो। कितनी बड़ी बात प्रभु ने कह दी – मैंने देखा कि दोनों एक ही भाषा बोल रहे हैं। अब मेरी भूमिका क्या होगी? बोले – जब तुम दोनों को ज्ञान हो गया, तो मुझे भ्रम हो गया –

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ।
तेहि भ्रम तें नहिं मारेऊँ सोऊ।। ४/८/५

प्रभु बोले – "मैं ही भ्रम में हूँ। जब मैं बोला कि मैं बालि को मारूँगा, तो मुझमें शत्रु-मित्र का भेद रहा होगा। मैं भ्रमित हूँ और तुम ज्ञानी हो। क्या बताऊँ, मुझे तो डर लग रहा था कि बालि को मारने के लिये बाण चला दूँ और धोखे में कहीं तुम्हें लग जाय तो !" बालि में भी समदर्शित्व कहीं नहीं है। यह नहीं कि बालि भगवान को देख नहीं रहा है। वह सब जानता है, तो भी वहीं पर खड़ा रहा। सुग्रीव के भागने पर उसने पीछा भी नहीं किया और चुपचाप लौट भी नहीं गया। वहीं खड़ा है। क्यों खड़ा है? भगवान ने उसके लिये एक शब्द कहा – अभिमानी। उसे इतना अभिमान है कि अपनी इस सफलता से वह सारा ज्ञान भूल गया। सोचने लगा – "बड़ा बल लेकर आया था, एक ही मुक्के में बता दिया। अब जरा देखें, जिनका बल लेकर आया था, उनमें क्या है? ईश्वरत्व आदि कुछ भी नहीं है।" सफलता के बाद उसे लगने लगा – "कुछ भी नहीं है। उन्हीं का बल लेकर तो आया था और एक ही मुक्के में मैंने उसे परास्त कर दिया।"

कई लोगों को ऐसा भ्रम है कि भगवान ने छिपकर बाली को मारा। परन्तु बात ऐसी है कि बालि उनकी ओर देखना ही नहीं चाहता। भगवान दिखलाना चाहते थे, पर वह देखना ही नहीं चाहता था। इसीलिये भगवान बोले – सुग्रीव, तुम फिर से लड़ने के लिये जाओ। लड़ाई के पहले उन्होंने एक और कौतुक कर दिया – सुग्रीव के शरीर पर उन्होंने हाथ फेर दिया, शरीर की पीड़ा दूर हो गई। सुग्रीव का डगमगाता हुआ मन फिर से कुछ सँभल गया। बोला – महाराज, मैंने पहले जो कह दिया था कि शत्रु-मित्र कुछ नहीं होता, उस वाक्य को मैं वापस लेता हूँ। – तब? बोले – महाराज, मेरा पुराना वाक्य ही ठीक था – यह मेरा बन्धु नहीं, मेरा काल है –

मैं जो कहा रघुबीर कृपाला।
बंधु न होइ मोर यह काला।। ४/८/४

प्रभु बोले – अब तुम अपनी कक्षा की भाषा बोल रहे हो और उस समय तुम अन्तिम कक्षा की बात बोल रहे थे। मान लीजिये कोई बच्चा पहली कक्षा में पढ़ रहा हो और उसको 'क' माने कबूतर बताया गया और कहीं अपने पिताजी से सुन लिया कि 'क' माने ब्रह्म होता है। वेदान्त के एकाक्षर कोष में 'क' माने ब्रह्म है। अब यदि वह परीक्षा में अध्यापक के पूछने पर 'क' माने ब्रह्म लिख दे, तो क्या स्थिति होगी? वह परीक्षा में उत्तीर्ण होगा या अनुत्तीर्ण? 'क' माने ब्रह्म, उसकी कक्षा का उत्तर नहीं है। उसका उत्तर तो 'क' माने कबूतर ही है। प्रभु का अभिप्राय यह है कि तुम जो वाक्य कह रहे थे, वह अन्तिम कक्षा का सत्य है, जो अनेक अनुभूतियों के बाद व्यक्ति के अन्तःकरण में आता है। वैसे ही यह बालि की भी परीक्षा थी। उसने यह भी तो माना था कि यदि वे मुझे मार देंगे, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा। भगवान ने सुग्रीव के गले में पुष्पमाला डाली, अपना विशाल बल दिया और कहा – अब तुम जाकर बालि से लड़ो –

मेली कंठ सुमन कै माला।
पठवा पुनि बल देइ बिसाला।। ४/८/६-७

सुग्रीव की पीड़ा भगवान के स्पर्श से ही दूर हो चुकी है। उन्होंने यह भी कह दिया कि मैं तुम्हें अपना बल दे रहा हूँ। सुग्रीव अब निश्चिन्त है – पीड़ा नहीं है और भगवान ने बल दे ही दिया। अब यदि मैं बालि को हरा दूँ, तो इतिहास यही कहेगा कि अन्तिम लड़ाई में सुग्रीव ने बालि को हरा दिया।

कैसे हराया? यह तो पीछे की बात है, सामने तो यही होगा।

जब फिर युद्ध होने लगा, तो अद्भुत बात हो गई – सुग्रीव फिर हारने लगे। यही है व्यक्ति को आगे बढ़ाने की प्रभु की अद्भुत शैली। सुग्रीव के लिये उनके मन में दया है, करुणा है। प्रभु क्रमश: सुग्रीव को प्रशिक्षण दे रहे हैं। सुग्रीव को लड़ने के लिये भेजना पहली कक्षा थी। पिटने देना दूसरी कक्षा थी। बल देकर भेजना तीसरी कक्षा थी। लेकिन वह फिर भी हार रहा है। क्यों? वही बात – सुग्रीव का विश्वास कितना शिथिल है! उसने सोचा – भगवान ने बल तो दिया, लड़ने के लिये भेज भी दिया, पर क्या केवल भगवान के बल से ही बालि हार जायेगा? नहीं, हम अपना भी तो कुछ मिलायें। और – वह केवल भगवान के बल का उपयोग नहीं करता, उसमें अपना छल मिलाता है, अद्भुत मिश्रण है! सुग्रीव जीवन में डरा-डरा दिख रहा है। अभी मुक्का लगने पर डरा हुआ दीख रहा था। पर जहाँ से पूरी तरह से डरना चाहिये, अभी तक नहीं डरा था। और तब वह शब्द है – हृदय से उसने हार का अनुभव कर लिया –

बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि।

हृदय से हार का अनुभव करना बड़ा कठिन है। व्यक्ति बार-बार हार का अनुभव करके भी, थोड़ा और प्रयास करना चाहता है। आशा छूटना कोई सरल बात नहीं है। इतनी दूर आ गये, भगवान से मित्रता कर ली, हनुमानजी जैसे सन्त से कथा सुन ली, भगवान ने परीक्षा देकर सिद्ध किया, युद्ध के लिये भेजा, शरीर की पीड़ा दूर कर दी, बल दे दिया। फिर भी जीव का स्वभाव इतना जटिल है कि वह अब भी बल के साथ कहीं-न-कहीं छल को जोड़े हुए था। परन्तु अब वह पूरे हृदय से हार मान चुका है – प्रभो, कहीं-न-कहीं मेरा अभिमान था, जो मेरी वाणी से बोल रहा था। कहीं-न-कहीं मेरे जीवन का दम्भ था जो बोल रहा था। सचमुच, मैंने बड़ी भूल कर दी, मैं किसी भी तरह से बालि को परस्त करने में सक्षम नहीं हूँ। बस, तब भगवान ने बालि के हृदय पर बाण का प्रहार किया –

मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि ।। ४/८

जिसके जीवन में कृर्तत्व का बोध है, उसके अभिमान से मुक्ति की बात उसके लिये आगे की कक्षा है। पहले जो है, उसका सदुपयोग होना चाहिये। जब भगवान सुग्रीव से कहते हैं – लड़ो, तो यह मानो हर साधक के लिये सन्देश है कि उसे बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करना है। भगवान इसके द्वारा यह संकेत देते हैं कि तुम लड़ो और मैं मारूँगा। यही गीता और रामायण का भी संकेत है। गीता में भी भगवान अर्जुन से कहते हैं – लड़ो। और यह दिखा भी देते हैं कि मैंने इन्हें पहले ही मार दिया है। तिवारीजी ने पूछा कि क्या पुरुषार्थवादी के जीवन में कृपा और कृपावादी के जीवन में पुरुषार्थ नहीं होता? तो मैंने यही कहा – कृपावादी के पुरुषार्थ में और पुरुषार्थवादी के पुरुषार्थ में अन्तर होता है। ऐसी बात नहीं कि कृपावादी के जीवन में पुरुषार्थ नहीं होता। **कृपावादी पुरुषार्थ करता नहीं, बल्कि होता है और पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ करता है। बस 'होता' और 'करता' – दोनों में यही अन्तर है।** भगवान जीव को क्रमश: प्रशिक्षित कर रहे हैं – अभी तुम कथा-श्रवण करो, मेरी महिमा को जानो, उस पर विश्वास करो, उसके बाद साधना करो, लड़ो और यह न मान बैठना कि इस लड़ाई में तुम निश्चित रूप से जीत ही जाओगे। क्योंकि साधना में सफलता के बाद अभिमान की समस्या आती है। अत: भगवान सुग्रीव की ऊँची बातें सुन कर भी कहते हैं कि तुम सही कहते हो, लेकिन अभी तो मैं जो कह रहा हूँ, वही तुम्हारी कक्षा है। बल देने के बाद भी वे उसे हारने देते हैं, तो वे पूरी तरह से ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देना चाहते हैं, जिससे उसके जीवन में शरणागति आ जाय।

अब भगवान ने बालि के ऊपर बाण का प्रहार किया। गोस्वामीजी ने इसको आध्यात्मिक रूप भी दिया है। कर्म ही बालि है। उन्होंने विनयपत्रिका में कहा –

करम कपीस बालि बली त्रास त्रस्यों हौ ।। १८१/४

किसी भी व्यक्ति के लिये कर्म पर विजय प्राप्त करना असम्भव है। इसीलिये बालि रावण को बगल में दबा लेता है। उसका सांकेतिक अभिप्राय है कि सारे संसार को जीतने वाला भी कर्म पर विजय नहीं पा सकता। जीव भी कर्म पर विजय नहीं पा सकता। ईश्वर ही अपनी कृपा से कर्म को मिटाकर जीव को कर्म-त्रास से मुक्त कर सकते हैं। यही भगवान के द्वारा बालि का वध है। लेकिन जब तक जीव में करने की वृत्ति है, तब तक उसे करने दिया। एक बार नहीं, दो बार नहीं, कई बार और अन्त में बालि पर बाण का प्रहार कर दिया। धन्य हो गया सुग्रीव!

प्रभु बड़े कृपालु हैं। उन्हें लगा कि अब जरा चलकर सामनेवाले से भी तो मिल लें। बालि पर बाण चलाकर भगवान चाहते तो वहीं खड़े रहते। बालि की कुछ ही क्षणों में मृत्यु हो जाती। पर बालि गिरा और जब उसने अपनी आँखें खोलकर देखा, तो सामने भगवान राम खड़े थे।

भगवान सामने खड़े हुये हैं। उनकी आँखों में लाली दिखाई दे रही है। धनुष पर बाण चढ़ा हुआ है –

स्याम गात सिर जठा बनाये।
अरून नयन सर चाप चढ़ये ।।

उसने तारा से कहा था – यदि मुझे मार देंगे, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा। यह यदि उसके हृदय की भाषा होती, तो अब वह जो बोला, वह न बोलता। भगवान जब सामने आये, तो उसने कहा –

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।

मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ।। ...
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ।। ४/९/५-६

मानो उसका भी प्रभु अभिमान नष्ट करते हैं। उसने जो वाक्य कहा उस पर भगवान ने यही कहा – वस्तुत: तू जो बातें करता है, उसमें तेरा ज्ञान नहीं है –

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना ।
नारि सिखावन करसि न काना ।।
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी ।
मारा चहसि अधम अभिमानी ।। ४/९/९-१०

और जब बालि का वह अभिमान नष्ट होता है, तब बालि भी कल्याण का ही भागी बनता है –

रामचरन दृढ़ प्रीति करि, बालि किन्ह तनु त्याग ।। ४/१०

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि कोई भी सिद्धान्त हर व्यक्ति के लिये समान रूप से उपयोगी नहीं है। जैसे एक ही दवा हर रोगी के लिये उपयोगी नहीं है। जिस व्यक्ति को जो रोग हो, उसे उसी रोग की दवा चाहिये – इस मूल सूत्र के आधार पर हमें राम-चरित-मानस या गीता या अन्य ग्रन्थों में जो वाक्य कहे गये हैं, उनको पढ़ना और समझना होगा।

इसीलिये मनु के प्रसंग में गोस्वामीजी ने दो परम्पराओं का वर्णन किया। एक ओर ध्रुव हैं, जिनके लिये भगवान ने एक अवतार लिया और दूसरी ओर देवहूति हैं, जिनके लिये उन्होंने दूसरा अवतार लिया। फिर महाराज मनु हैं, जिनके दशरथ के रूप में जन्म लेने पर भगवान श्रीराम ने अवतार लिया। ये तीन अवतार इन तीनों की परम्परा से जुड़े हुए हैं। एक अवतार ध्रुव के लिये हुआ, जिनकी भक्ति शुद्ध सकाम थी। उन्हें अपनी विमाता सुरुचि से तिरस्कार मिला। सुरुचि राजा उत्तानपाद की प्रिया थीं और जब ध्रुव अपने पिता की गोद में जाते हैं, तो उनकी विमाता उन्हें गोद से उतार कर बोली – इस गोद में तो मेरा बेटा बैठेगा। ध्रुव ने अपमान-बोध किया और अपनी माता सुनीति के पास गये। माँ ने भक्ति का उपदेश दिया, जिसे सुनकर वे भगवान को पाने के लिये वन में गये। पाँच वर्ष में ही उन्होंने ईश्वर को पा लिया और उन्हें पिता की गोद ही नहीं, अवचिल राज्य की भी प्राप्ति हुई। एक अवतार की कथा यह है। दूसरे अवतार की कथा में देवहूति के गर्भ से भगवान ने कपिल के रूप में जन्म लिया। कपिल का सांख्य दर्शन – शुद्ध निष्काम दर्शन है, योगमय दर्शन है। ये दो धारायें हो गईं।

एक ओर कामना की धारा है। जिसके जीवन में कामना और कामना-पूर्ति की इच्छा है, वे ध्रुव के समान भगवान के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति कर पाने में सक्षम होते हैं। और जो लोग निष्कामता तथा वैराग्य के अधिकारी हैं, निवृत्ति के अधिकारी हैं, उन्हें जीवन में भोगों को भोग लेने के बाद ईश्वर की प्राप्ति होती है, जैसा कि ऋषि कर्दम की पत्नी होने से देवहूतिजी के गर्भ से निवृत्ति-परायण ईश्वर जन्म लेते हैं। जो ईश्वर प्रवृत्ति के लिये अवतरित होते हैं, वे ही ईश्वर निवृत्ति के लिये कपिल के रूप में जन्म लेते हैं। भगवान कपिल यही बताते हैं कि जब तक व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति की ओर से उदासीनता नहीं होगी, कामनाओं का नाश नहीं होगा, तब तक उसका कल्याण नहीं होगा। दूसरी ओर ध्रुव के प्रसंग से पता चलता है कि यदि कोई कामना लेकर भगवान को पाना चाहे, तो भी भगवान प्रसन्न होकर उस कामना को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के – दो दर्शन दोनों अवतारों के माध्यम से सामने आये।

मनु के द्वारा तीसरा अवतार हुआ – भगवान श्रीराम का। यह अवतार किनके लिये है – प्रवृत्ति-परायण के लिये या निवृत्ति-परायण के लिये? सकाम के लिये या निष्काम के लिये? इसका उत्तर यह है कि मनु ने ईश्वर के अवतार के द्वारा जो समाधान निकाला, वह सबके लिये समान रूप से उपयोगी है। भगवान कपिल के उपदेश उसके अधिकारी के लिये परम उपादेय हैं और उसे धन्य कर सकते हैं। ध्रुव का सकामतावाला पक्ष क्या है? कामना हुई और ईश्वर से कह दिया – इसे पूरी करो। पूरी हो गयी, तो बड़े प्रसन्न हो गये। यदि कामना पूर्ण होने पर व्यक्ति प्रसन्न होगा, तो निश्चित है कि कामना पूरी नहीं हुई, तो उसे क्रोध भी आयेगा।

इस समस्या का पूर्ण समाधान देने के लिये मनु ने ईश्वर के उस रूप को प्रगट करना चाहा, जो केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति ही नहीं, वरन् समाज के हर व्यक्ति को ऐसा समाधान दे सके, जो सबके लिये समान रूप से उपयोगी हो। इसलिये भगवान जब श्रीराम के रूप में अवतरित होते हैं, तो भिन्न-भिन्न पात्रों के सन्दर्भ में, भिन्न-भिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में वे जिस कार्यशैली तथा जिन उपदेशों को प्रस्तुत करते हैं, वह मानव-समाज में हर व्यक्ति के लिये उपयोगी है।

पुरुषार्थ, कृपा, शरणागति – सबका बड़ा महत्त्व है। परन्तु इसके लिये सर्वप्रथम व्याकुलता की जरूरत है। मनु के जीवन में आप देखेंगे कि क्रमश: यही व्याकुलता, यही बेचैनी उनके जीवन में आयी। वे इतने महान् राजा थे, जिन्होंने धर्म का इतना विस्तार किया, प्रजा का पालन किया, लेकिन जब वे वृद्धावस्था की ओर बढ़ने लगे तो उनके मन में बड़ी बेचैनी होती है, बड़ा दु:ख होता है –

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।
हृदयँ बहुत दुख लाग ... ।। १/१४२

अभावजन्य दु:ख तो सबको हो रहा है, परन्तु इतने सुखों के बीच, सभी वस्तुओं के होते हुये भी जिसके जीवन में दुख हो, वही साधक है। सब कुछ हो, तो भी कुछ कमी लगे, उस कमी को दूर करने में किसके लिये कौन-सी पद्धति उपयोगी है, आगे इसी की चर्चा होगी। ❖ **(क्रमशः)** ❖

पुरुषार्थ और प्रारब्ध

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मैं दो व्यक्तियों को जानता हूँ। वे परस्पर बड़े मित्र हैं, परन्तु दोनों की विचार-धाराएँ बिलकुल विपरीत हैं। एक हैं जो पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं – कहते हैं, मनुष्य अपने प्रयत्न से सब कुछ हासिल कर सकता है, जबकि दूसरे प्रारब्ध यानी भाग्य के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कि जीवन में भाग्य का ही बोलबाला है। वे अपने पक्ष में प्राय: ही महाभारत का श्लोक सुना देते हैं – **भाग्यं फलति सर्वत्र न दैवं न च पौरुषम्** – यानी सर्वत्र भाग्य ही फलता है – न ईश्वर की इच्छा, न पुरुषार्थी। जब इन दोनों मित्रों में बहस होती है, तो वह सुनने लायक होती है। दोनों अपने-अपने पक्ष में जोरदार तर्क देते हैं। जो पुरुषार्थी मित्र हैं, वे भी महाभारत से ही श्लोक लेकर अपना पक्ष प्रस्तुत कर देते हैं, जहाँ पर भीष्म युधिष्ठिर को पुरुषार्थ की प्रधानता समझाते हुए कहते हैं –

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ।।

– अर्थात् "युधिष्ठिर ! कार्य की सिद्धि में यद्यपि प्रारब्ध और पुरुषार्थ, ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित बताया गया है।"

परन्तु भाग्यवादी मित्र सहज में ही हार नहीं मानते। वे अपने पुरुषार्थी मित्र से कहते हैं – "तुम्हें अभी तक किसी असफलता का सामना नहीं करना पड़ा, इसीलिए तुम पुरुषार्थ को लेकर इतना उछल रहे हो। जब लाख चेष्टा करने पर भी देखोगे कि तुम्हारा काम बना नहीं, तब समझोगे कि जीवन का नियंत्रण पुरुषार्थ नहीं, भाग्य करता है।"

पहले ये भाग्यवादी मित्र भी बड़े पुरुषार्थी थे। उनके जीवन में एक हादसा हो गया। तभी से उनकी दृष्टि में भाग्य ही सर्वोपरि है। हुआ यह कि उनका इकलौता पुत्र बीमार पड़ गया। धन की तो उनके पास कमी थी नहीं, वे एक-से-एक डॉक्टर के पास अपने बेटे को ले गये, पैसा पानी की तरह बहाया, पर अन्त में वे प्रारब्ध के समक्ष न टिक पाये, पुत्र की मृत्यु हो गयी। तब से उनका विश्वास पुरुषार्थ पर से हट गया। वे भाग्यवादी बन गये। और भाग्य का ही दूसरा नाम प्रारब्ध है।

ऐसा बहुतों के साथ होता है। जब तक हमारे मन के अनुसार सारे काम बनते रहते हैं, तब तक हम बड़े पुरुषार्थी होते हैं, पर जब काम बिगड़ने लगते हैं, चेष्टा करने पर भी सफलता नहीं मिलती, तो हम टूटकर भाग्य का सहारा लेते हैं। भाग्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा यह है कि वह एक ऐसी शक्ति है, जो दिखती नहीं, परन्तु जो मनुष्य के जीवन की घटनाओं का उसी प्रकार संचालन करती है, जैसे एक सूत्रधार परदे के पीछे से कठपुतलियों को नचाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अतियों में रहना पसन्द करते हैं। कोई पुरुषार्थ का एक 'अति' पसन्द करता है, तो कोई भाग्य का दूसरा 'अति'।

परन्तु जीवन की घटनाओं के पीछे पुरुषार्थ और प्रारब्ध दोनों ही विद्यमान हैं। एक को छोड़कर दूसरे का ग्रहण करना सन्तुलित दृष्टि नहीं है। हमारा जीवन इन दोनों के द्वारा नियंत्रित होता है। यदि हम असफलताओं से टूटकर ऐसा मान लें कि जीवन में पुरुषार्थ नाम की कोई चीज ही नहीं है, तो हममें जड़ता और अकर्मण्यता आ जाएगी। हमारी वृत्ति भाग्य-भरोसे बैठे रहने की होगी और हम अतिवाद के शिकार हो जाएँगे।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने एक दृष्टान्त के माध्यम से इन दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। वे कहते हैं – मान लीजिए हम ताश खेलने बैठे। ताश की जो पत्तियाँ हमारे हाथ में आयी हैं, यह प्रारब्ध का पक्ष है। पर इन पत्तियों से हम खेल किस प्रकार खेलते हैं, यह पुरुषार्थ का पक्ष है। हम जितना पुरुषार्थ व्यक्त करेंगे, उतनी ही हमारे जीतने की सम्भावना बनी रहेगी। इसी प्रकार जीवन में जो परिस्थितियाँ हमें प्राप्त हैं, वे प्रारब्ध या भाग्य के कारण हैं। अब इन परिस्थितियों का उपयोग हम कैसे करते हैं, यह हमारे पुरुषार्थ पर अवलम्बित होगा। यदि हमें एक बार असफलता मिलती है, तो हम दुबारा प्रयत्न करेंगे। यही जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टि है। ❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (३२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

आसाम – हबीबगंज (१९३६)

भारत में सर्वत्र ही प्रयोग के द्वारा अन्नोत्पादन में वृद्धि की चेष्टा खूब अल्प है। जो लोग कृषि के क्षेत्र में प्रशिक्षण आदि का कार्य करते हैं, उनमें से अधिकांश ही केवल टेबल-वर्क करते हैं और परम्परागत विधि से कुछ धान आदि उत्पन्न करते हुए प्रायोगिक फार्म का काम देखते हैं। यदि ऊपर का कोई अधिकारी या मंत्री कुछ आदेश देता है, तो थोड़ा-बहुत उसके अनुसार करते हैं और तत्काल खर्च बढ़ा देते हैं। कहा जा सकता है कि इसमें आर्थिक पक्ष पर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता। किसानों को कोई समस्या आने पर – यथा वर्षा की कमी या आधिक्य के कारण फसल चौपट हो जाने पर, यदि कोई उपाय पूछने आते हैं, तो प्राय: घिसा-पिटा उत्तर पाते हैं या फिर कोई उत्तर ही नहीं दिया जाता।

इसका समाधान बड़े अधिकारियों या मंत्रियों के हाथ में है। परन्तु उनसे मिल पाना निर्धन किसानों की तो बात ही क्या, किसी भी किसान के लिये अति कठिन है।

१९३६ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी-उत्सव के समय संन्यासी को आसाम का कार्यक्षेत्र दिया गया था। सिलहट आश्रम सर्वत्र व्याख्यान आदि का आयोजन कर रहा था। 'बंगाली-विद्वेष' के भय से कोई भी जाने को राजी नहीं हुआ। तब सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्दजी) ने संन्यासी को ही भेजा। वे बेलूड़ मठ के महासचिव थे। उसी समय हबीबगंज भी जाना हुआ। सम्भवत: यशोदा बाबू नामक एक सम्पन्न जमींदार तथा वकील वहाँ के आश्रम के तत्कालीन अध्यक्ष थे। बात-ही-बात में उन्होंने बताया कि विगत कुछ वर्षों से उन लोगों के यहाँ (हबीबगंज में) धान की फसल बिल्कुल भी नहीं होती, क्योंकि चाय के बागान हो जाने से आसाम-पहाड़ का पानी नीचे उतर जाता है और पानी अधिक हो जाने के कारण धान नहीं होता।

संन्यासी – "पानी के उतर जाने के बाद क्या आप लोग कोई फसल नहीं लेते?"

यशोदा बाबू – "सभी अपनी-अपनी गायें छोड़ देते हैं, इसलिये खेती कर पाना सम्भव नहीं होता। घास तो थोड़ा-सा हो जाता है, परन्तु धान नहीं होने से खर भी नहीं मिलता – यह एक बड़ी समस्या हो गयी है। सरकार से कह-कहकर भी परेशान हो गये हैं। वह कोई कदम नहीं उठा रही है और पानी रोकने के लिये कोई उपाय भी नहीं कर रही है।"

संन्यासी – "एक प्रयोग करके देखिये न! पानी उतर जाने के बाद कुछ खेतों में मूंगफली तथा शकरकन्द लगाकर देखिये। मूंगफली तो खूब होगी और शकरकन्द को खाकर गरीब लोग एक समय की अन्न-समस्या दूर कर सकते हैं। और उस खेत में ज्वार भी खूब होगा। इससे गायों के लिये खर या चारे की समस्या दूर हो जायेगी। वह गन्ने की जाति का होने के कारण शर्करायुक्त रस से परिपूर्ण रहता है। उसे गायें खूब खायेंगी और दूध भी बढ़ेगा। और जो दाने होंगे, उनके आटे की रोटियाँ, (आटे को सेंककर) दलिया या राब बनाकर खाया जा सकता है। इसमें दोनों प्रकार का लाभ है। यह उस गीली मिट्टी में ही हो जायेगा, पानी देने की जरूरत ही नहीं होगी। चने की फसल भी बहुत अच्छी होगी। थोड़ा-थोड़ा प्रयोग करके सीखिये न!

यशोदा बाबू – "परन्तु सभी लोग गायें छोड़ देते हैं। रखवाली करना बड़ा कठिन है। कुछ करने से ...।"

संन्यासी – "अरे महाशय, सौ हाथ जमीन को पतले बाँसों की बाड़ से घेर लीजिये। बाँस का तो यहाँ कोई अभाव नहीं है। एक बार बोने से ही समझ में आ जायेगा कि उसकी कैसी फसल होती है। अच्छी हुई, तो सभी उसे बोना शुरू कर देंगे। और तब गाय की समस्या भी नहीं रह जायेगी।"

यशोदा बाबू – "परन्तु ज्वार मिलेगा कहाँ से?"

संन्यासी – "एक सेर भेज देने के लिये राजकोट पत्र लिख देता हूँ। थोड़ा हल चलाकर उसे छिड़क देने से ही उग जायेगा। अन्य कुछ भी नहीं करना पड़ेगा। परन्तु यदि उसके छोटे पौधों को गाय-बकरियाँ खायें, तो वह विष के समान कार्य करता है, उनका पेट फूल जाता है, कभी-कभी मर भी जाती हैं। परन्तु पौधों के सूख जाने पर वह अमृत के समान उपयोगी हो जाता है। खर से तो वह सौगुना अच्छा है।"

१९४० ई. में संन्यासी एक बार फिर हबीबगंज गया था। तब भी वर्षा का मौसम था और सब जगह बाढ़ का प्रकोप चल रहा था। सर्वत्र थोड़ी-बहुत वर्षा हो रही थी। कई

जगह रेल की लाइन तक डूब गयी थी। जब गाड़ी स्टेशन पर पहुँची, तब भी वर्षा हो रही थी। प्लेटफार्म लाल कंकड़ी से युक्त मिट्टी से भरा हुआ था। यशोदा बाबू उपस्थित थे। उन्होंने खूब स्वच्छ श्वेत वस्त्र पहन रखे थे। संन्यासी को देखते ही उस कीचड़ के ऊपर ही साष्टांग प्रणाम किया।

संन्यासी – "अरे, यह क्या कर रहे हैं? यह क्या कर रहे हैं? सहसा इतनी भक्ति क्यों? मस्तिष्क तो ठीक है न !"

यशोदा बाबू – "आपने हम लोगों को बचा लिया है। अब प्रजा खाने को भी पा रही है और पैसे भी कमा रही है। मूंगफली तो खूब पुष्ट तथा बड़े-बड़े दानों से युक्त हो रही है और शकरकन्द भी खूब बड़े-बड़े तथा काफी मात्रा में हो रहे हैं। लोग उसे उबालकर खा रहे हैं। मूंगफली की बाजार में काफी माँग है, इसलिये रुपये भी मिल रहे हैं, जो पहले कभी नहीं मिले थे। आपने जैसा कहा था, मैंने वैसे ही बाँस फट्टियों की बाड़ बनाकर सौ हाथ जमीन घेर लिया और उसी में प्रयोग किया। जब पौधे पुष्ट हो गये, तो सभी आकर पूछने लगे और जिस समय मैंने मूंगफली का फसल निकाला, तब गाँव के किसान लोग तो थे ही, और भी बहुत-से लोग उपस्थित थे। बस ! अगली बार से तो सबने वैसा ही करना शुरू किया, इसीलिये गाय की समस्या भी मिट गयी। अब बाड़ लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। अब सभी लोग वैसा ही कर रहे हैं। आपने ही तो रास्ता दिखाया, इसीलिये आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। सरकारी विभाग है। उसके अधिकारी और कर्मचारी काफी वेतन भी पाते हैं। बाबूगीरी करते हैं, परन्तु हमारा संकट देखकर भी, जिससे हमारा उपकार हो, वैसा कोई संकेत तक उन्होंने नहीं दिया।"

संन्यासी – "जो लोग टेबल-वर्क करके अपनी जेबें भरते हैं, उनमें से अधिकांश ही कोई चिन्ता नहीं करते, या करने की कोई जरूरत भी नहीं समझते। लोकहित या सेवा का भाव उन लोगों के दिल में नहीं है, इसीलिये देश की दुर्दशा हो रही है। परन्तु महाशय, आप तो शिक्षित हैं – उच्च शिक्षित, आप भी तो सरकार को केवल विरोध-पत्र लिखने के बाद चुपचाप बैठे थे। प्रयोग करने की बुद्धि तो आपको नहीं आयी। बड़ी लम्बी बात है। किन्तु परमुखापेक्षी होकर रहना शिक्षित लोगों को शोभा नहीं देता। अच्छा, उस ज्वार का क्या हुआ? उसका बीज राजकोट से आया तो था न !"

यशोदा बाबू – "जी, आया तो था, परन्तु उसका प्रयोग नहीं किया गया। इन दो चीजों से ही सभी सन्तुष्ट हो गये।"

संन्यासी दुखी हुआ। शिक्षित व्यक्ति की भी यही मनोदशा है ! नये अन्न का उत्पादन नहीं करना चाहता। ऐसे इस देश की उन्नति की गति कितनी धीमी होगी !

इसके बाद उसने बताया कि शकरकन्द की रोटी कैसे बनायी जाती है। एक सेर शकरकन्द को उबालकर उसे अच्छी तरह मसलकर उसके छिलके तथा रेशों को निकाल देना चाहिये। उसमें एक पाव आटा, मैदा या चावल का चूरा मिलाकर गूथ लेना होग। इसके बाद उसकी छोटी-छोटी रोटियाँ बनाकर तवे में थोड़ा-सा तेल लगाकर या कपड़े के एक टुकड़े को तेल में भिगोकर उस पर फिराने के बाद सेंक लेना चाहिये। एक ओर थोड़ा लाल हो जाने पर पलटकर दूसरी ओर भी वैसे ही सेंक लेना चाहिये। बस, हो गया। उसे ऐसे ही खाया जा सकता है; और साथ में थोड़ा-सा अचार हो, तो फिर कहना ही क्या ! खूब स्वादिष्ट होने के कारण बच्चे तो माँग-माँगकर खाते हैं। चाय के साथ उसका नाश्ता किया जाय, तो फिर कहना ही क्या !

जो लोग कृषि-विभाग में मुख्य अधिकारी या मंत्री होते हैं, उन लोगों को इस विषय का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। कम-से-कम वे लोग देखेंगे कि भारत के अन्य प्रान्तों के लोग क्या-क्या करते हैं, वहाँ की पद्धति सीखेंगे, सिंचाई देखेंगे, जलवायु समझेंगे और थोड़ा-थोड़ा प्रयोग करके देखेंगे कि यहाँ के लिये वह सब उपयोगी है या नहीं !

बड़े दु:ख की बात है कि यह सुनते ही मंत्री महोदय तथा उनके सचिव तत्काल अध्ययन हेतु अमेरिका या यूरोप की यात्रा पर निकल पड़ेंगे। निर्धन प्रजा के खर्च पर उनका विदेश-भ्रमण हो जायेगा। वहाँ वे मशीनों के लिये एक विशाल आदेश-पत्र दे आयेंगे या हजारों रुपये महीने देकर विशेषज्ञ बुला लायेंगे। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है।

स्वदेश-प्रेम, स्वजाति-प्रेम या सेवा-भाव – कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, मात्र शब्दों में है, भाषण में है। अफसोस !

शायद इसीलिये स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि हमारे प्रत्येक युवक को एक बार जापान जाकर देख आना चाहिये। इससे वे देख सकेंगे कि उनका स्वदेश-प्रेम – देश की उन्नति के लिये उनका त्याग तथा आत्म-बलिदान का भाव कैसा है; वे लोग कैसे उद्यमी तथा सर्वग्राही बुद्धि से युक्त हैं। उसके बाद ये युवक स्वदेश लौटकर देश तथा जनता की उन्नति के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर देंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

लक्ष्यभेद

स्वामी सत्यरूपानन्द

गंगापुत्र पितामह भीष्म कौरव और पाण्डव-राजकुमारों को आचार्य द्रोण के हाथों सौप कर निश्चिन्त हो गये। आचार्य भी परिश्रमपूर्वक राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र संचालन तथा युद्ध-विद्या की शिक्षा देने लगे। शिष्यगण भी निष्ठापूर्वक विद्याभ्यास करने लगे। धीरे-धीरे सभी राजकुमार अस्त्र-शस्त्र संचालन में निपुण होने लगे।

तब आचार्य ने शिष्यों की परीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने बढ़ई को बुलाकर काठ का एक पक्षी बनवाया। वह पक्षी देखने में जीते-जागते पक्षी के सामान लगता था। उसे आचार्य ने एक ऊँचे-वृक्ष की ऊपर की टहनी पर बिठवा दिया तथा दूसरे दिन शिष्यों को उस वृक्ष के निकट एकत्रित होने का आदेश दिया। शिष्यगण जब एकत्रित हो गए, तब आचार्य ने उनसे कहा कि आज तुम लोगों की परीक्षा होगी। सामने के वृक्ष पर एक पक्षी बैठा है। तुम्हें अपने बाण से उसका सिर भेदना है। मैं जिसे बुलाऊँ वह सामने आकर खड़ा हो जाए तथा निशाना साधे, फिर जब मेरी आज्ञा हो तब बाण चलाए।

आचार्य ने सर्वप्रथम युधिष्ठिर को बुलाया। जब युधिष्ठिर निशाना साधकर खड़े हो गए, तब आचार्य ने उनसे पूछा – वत्स ! तुम्हें क्या दीख रहा है?

युधिष्ठिर ने कहा – गुरुदेव, मुझे वृक्ष, पक्षी, आप तथा सभी भाई दिखाई दे रहे हैं।

आचार्य ने असन्तोष के स्वर में कहा – रहने दो, तुम यह लक्ष्य भेद नहीं सकते।

बारी-बारी से दुर्योधन, भीम आदि सभी आए, किन्तु सबका एक ही उत्तर था। लक्ष्य के साथ-साथ उन्हें और भी अनेक वस्तुएँ दिखाई दे रही थीं। आचार्य असन्तुष्ट थे। उन्होंने किसी शिष्य को बाण चलाने की आज्ञा नहीं दी।

अब आचार्य की दृष्टि पृथापुत्र अर्जुन की ओर गयी। आचार्य ने उसे भी वही आदेश दिया। अर्जुन निशाना साधकर खड़े हो गए। कुछ क्षणों पश्चात् आचार्य ने अर्जुन से भी पूछा – वत्स ! तुम्हें क्या दीख रहा है?

अर्जुन ने कहा – गुरुदेव ! मुझे तो पक्षी तथा बाण की नोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीख रहा है।

आचार्य ने प्रसन्न होकर पुन: कहा – अपने लक्ष्य को ध्यानपूर्वक देखो।

अर्जुन ने और भी एकाग्रता से लक्ष्य की ओर देखा। कुछ क्षणों पश्चात् आचार्य ने फिर पूछा – वत्स ! अब तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है?

अर्जुन ने कहा – गुरुदेव, पक्षी का सिर तथा बाण की नोक के अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है।

आचार्य द्रोण हर्ष उत्फुल्लित हो उठे। और उन्होंने अर्जुन को बाण चलाने की आज्ञा दे दी। बाण के छूटते ही पक्षी का मस्तक कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अर्जुन ने लक्ष्य को भेद लिया था। अन्य सभी भाई आश्चर्यचकित थे। कितनी सरलता से अर्जुन ने लक्ष्यभेद कर लिया था।

जीवन के क्रीड़ागण में भी तो यही होता है। हममें से प्रत्येक एक प्रतियोगी ही तो है। जीवन की सफलता और सार्थकता के लिये सभी को लक्ष्यभेद करना होगा। जो लोग लक्ष्यभेद करने में असफल रहेंगे उनका जीवन भी सफल और सार्थक न होगा।

आचार्य ने तो सभी राजकुमारों को एक साथ ही शिक्षा प्रदान की थी, पर एकमात्र अर्जुन ही क्यों लक्ष्य भेदन में सफल हुए? इसलिये कि अर्जुन को लक्ष्य तथा बाण की नोक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीख रहा था।

जीवन में सब प्रकार की शिक्षा तथा सुविधाएँ पाकर भी लोग परीक्षा की घड़ी में लक्ष्य क्यों नहीं भेद पाते? इसलिए कि लक्ष्य के साथ-साथ हमें वृक्ष, आचार्य, बन्धुगण और न जाने क्या-क्या दीख पड़ता है। लक्ष्य पर हमारी दृष्टि निबद्ध नहीं हो पाती और इसीलिये हम लक्ष्य को भेदने में समर्थ नहीं हो पाते। इस प्रकार लक्ष्य का भेद न कर सकने के कारण ही तो हम जीवन में सफल और सार्थक भी नहीं हो पाते।

क्रीड़ाङ्गण में लक्ष्य भेदन करने में समर्थ व्यक्ति जीवन संग्राम में भी सफलतापूर्वक लक्ष्यभेद कर लेता है। द्रुपदसुता की वरमाला अर्जुन के गले में इसीलिए पड़ सकी थी कि परीक्षा की घड़ी में अर्जुन को लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीख रहा था।

जयद्रथ का मस्तक छेदन कर उसका शीश उसके पिता की गोद में गिराकर स्वयं के मस्तक को शतखण्ड होने से बचाने में अर्जुन कैसे समर्थ हुए थे? इसीलिये कि अर्जुन को अपने लक्ष्य तथा उसे भेदने के साधन बाण की नोक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीख रहा था।

अर्जुन ऐसा करने में कैसे समर्थ हो सके थे?

एक दिन की घटना है। अर्जुन रात्रि में भोजन कर रहे थे। उसी समय तेज हवा चली और भोजन कक्ष का दीपक बुझ गया। अर्जुन अँधेरे में ही भोजन करते रहे। अकस्मात्

उनका ध्यान अपने हाथ और मुँह की ओर गया। अर्जुन सोचने लगे कि इस अन्धकार में भी मेरा हाथ भोजन का ग्रास ठीक मेरे मुँह में ही पहुँचा रहा है। वह तो इधर-उधर कहीं नहीं जाता। यह कैसे हो रहा है? तभी उसके मन में बिजली की भाँति एक बात कौंध गई। यह तो बाल्यावस्था से किये गये अभ्यास का ही परिणाम है। तब क्यों न मैं रात के अँधेरे में भी बाण चलाने का अभ्यास करूँ। और उसी दिन से अर्जुन रात्रि में भी बाण चलाने का अभ्यास करने लगे।

अभ्यास – निरन्तर अभ्यास और कठोर परिश्रम यही अर्जुन की सफलता का रहस्य था। लक्ष्य पर दृष्टि रखकर निरन्तर अभ्यास करने के कारण ही अर्जुन लक्ष्य भेद में सफल हुए थे।

जीवन की सफलता और सार्थकता के लिये केवल लक्ष्य स्थिर कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। लक्ष्य स्थिर करने के पश्चात् उस पर सतत् दृष्टि बनाये रखना कहीं अधिक आवश्यक है। लक्ष्य का ध्यान बना रहे, तो दृष्टि स्वाभाविक रूपसे लक्ष्य प्राप्ति के साधनों की ओर भी जाने लगती है। मन सजग और सक्रिय हो उठता है। यह सक्रियता व्यक्ति को लक्ष्य भेदन की योग्यता प्रदान करती है और तब परीक्षा की घड़ी में व्यक्ति अनायास ही लक्ष्य का भेदन करने में समर्थ हो जाता है।

यह सामर्थ्य सहज ही नहीं आ जाती। इसके लिए अर्जुन के समान कठोर परिश्रम और साधना के रूप में मूल्य चुकाना पड़ता है। सतत् सावधान भी रहना पड़ता है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण करना पड़ता है। स्वयं के गुण-दोषों से अवगत होकर दोषमर्दन तथा गुणवर्धन का सतत् प्रयत्न करना पड़ता है। प्रचण्ड पुरुषार्थ करना पड़ता है। और तब कहीं लक्ष्यभेद होता है।

महाभारत के विभिन्न प्रसंगों में मानवजीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत किया गया है। हमारे मन में एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है – जीवन का वह कौन-सा लक्ष्य है जिसकी ओर हमें अपनी दृष्टि को निबद्ध करना है। हमारे ऋषियों ने मानव जीवन की इस समस्या का सम्पूर्ण एवं शाश्वत समाधान दिया है। मुण्डक उपनिषद् में ऋषि कहते हैं – लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! – "हे प्रिय वह 'अक्षर' ही लक्ष्य है।" फिर अपनी बात स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं –

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत ।। ४/२/२

प्रणव या ॐकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है तथा ब्रह्म ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमादरहित होकर उसे बींधना चाहिए तथा उस लक्ष्य में बाण के सामान तन्मय हो जाना चाहिए।

ब्रह्मानुभूति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। देहत्याग के पूर्व ही इस लक्ष्य को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेना होगा। और इसके लिये यह आवश्यक है कि हम अर्जुन के समान अन्य सभी विषयों से अपनी दृष्टि को हटाकर उसे इस लक्ष्य पर ही केन्द्रित करें।

प्रणव रूपी इस धनुष को दृढ़तापूर्व ग्रहण करना चाहिए अर्थात् दृढ़ विश्वास के साथ इस ॐकार मन्त्र को अपनाना चाहिये। क्योंकि ॐकार-रूपी धनुष आत्मा-रूपी बाण को लक्ष्य तक पहुँचाने का साधन है, अत: ॐकार मंत्र के प्रति दृढ़ विश्वास आवश्यक है।

आत्मा ही इस धनुष का बाण है। इस बाण में धार लगानी होगी, इसे पैना करना होगा। इसे पैना करने की पद्धति क्या है?

ऋषि कहते हैं – **उपासानिशितम्** – उपासना के द्वारा पैना किया हुआ। एकमात्र उपासना के द्वारा ही आत्मा रूपी बाण को पैना किया जा सकता है।

यह उपासना क्या है? आचार्य शंकर मुण्डक उपनिषद् के अपने भाष्य में कहते हैं – **सतताभिध्यानेन तनूकृतम्** – निरन्तर ध्यान के अभ्यास द्वारा पैना किया हुआ अर्थात् निरन्तर प्रणव जप तथा ध्यान के अभ्यास द्वारा एकाग्र किए हुए मन के द्वारा प्रमादरहित होकर लक्ष्य को भेदना चाहिए। किस प्रकार भेदन करना चाहिए? **शरवत्तन्मयो भवेत्** – बाण जिस प्रकार लक्ष्य में भिद जाता है, उसी प्रकार अपने इस एकाग्र मन को अपने लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म में प्रविष्ट करके ब्रह्म के साथ मन को एकाकार कर लेना चाहिए, तन्मय हो जाना चाहिए।

वही लक्ष्यभेद है। जो व्यक्ति इस प्रकार जीवन के लक्ष्य को भेदन में सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल और सार्थक होता है। फिर अन्य जो भी व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता है, लौह के स्पर्शमणि के साथ संसर्ग के समान उसका जीवन भी उन्नत हो जाता है।

❑❑❑

महेन्द्रनाथ गुप्त

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

'म' उपनाम से अधिक परिचित महेन्द्रनाथ गुप्त (१८५४-१९३२) का श्रीरामकृष्ण से मिलन एक संयोग ही था। यद्यपि इस मिलन की कोई योजना नहीं बनायी गयी थी, तथापि वह पूर्व-निर्दिष्ट था, जैसा कि श्रीरामकृष्ण जानते थे। एक दिन उन्होंने स्वयं 'म' से कहा था, "मुझे पहले से ही सब दिखा दिया जाता है। बटतले (पंचवटी) में गौरांग के संकीर्तन का दल देखा था। उसमें शायद बलराम को देखा था और तुम्हें भी शायद देखा है।... तुम्हारा चैतन्य-भागवत (चैतन्य महाप्रभु की जीवनी) पढ़ना सुनकर, मैं तुम्हें पहचान गया। तुम अपने आदमी हो। एक ही सत्ता है, जैसे पिता और पुत्र। यहाँ सब आ रहे हैं, जैसे कलमी की बेल – एक जगह पकड़कर खींचने से सब आ जाता है।... जब तक यहाँ तुम नहीं आये, तब तक तुम भूले हुए थे, अब अपने को पहचान सकोगे।"[१]

महेन्द्रनाथ का जन्म १४ जुलाई १८५४ को कलकत्ते में हुआ था। पिता मधुसूदन गुप्त और माता स्वर्णमयी देवी एक धर्मपरायण दम्पति थे। महेन्द्रनाथ धार्मिक निष्ठा और सदाचार के वातावरण में बड़े हुए। चार वर्ष की आयु में वे अपनी माता के साथ रथयात्रा-उत्सव देखने के लिए गंगा के पश्चिमी तट पर माहेश नामक स्थान पर गये थे। वापसी के समय उनकी टोली दक्षिणेश्वर के नवनिर्मित भवतारिणी का मन्दिर[२] देखने के लिए रुकी थी। बाद में उस घटना का स्मरण करते हुए 'म' कहते थे, "मन्दिर तब नया-नया था, पूरा सफेद था। मन्दिर के दर्शन के समय मैं अपनी माता से बिछुड़ गया और मन्दिर के चबूतरे पर खड़ा होकर रोने लगा। उन मकानों में से किसी एक में से एक युवक बाहर आया और मुझे चुप कराने लगा। वह पूछने लगा, 'यह लड़का किसका है? इसकी माँ कहाँ चली गयी है?' " 'म' का ऐसा विश्वास था कि वह युवक दूसरा कोई नहीं, स्वयं श्रीरामकृष्ण ही थे, जो उनके बचपन से ही उनके साथ रहकर उनकी रक्षा करते थे। उनके बचपन की एक अन्य घटना भी उनके स्मृति-पटल पर अंकित थी। एक दिन जब श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा था, "तुम्हें आश्विन महीने में (५ अक्तूबर १८६४ ई. को) आये तूफान की याद है?" तो प्रश्न में उन्हें एक विशेष तात्पर्य का बोध हुआ था। उन्होंने उत्तर दिया था, "जी हाँ। तब मैं बहुत छोटा था – नौ या दस साल का। मैं एक कमरे में अकेले बैठा आकुल होकर भगवान से प्रार्थना कर रहा था।"

'म' कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्रतिभाशाली छात्र थे। उन्होंने कुछ दिन किसी व्यापारिक संस्थान में काम किया और फिर शिक्षकीय पेशे में आ गये। उन्होंने कई स्कूलों में हेड-मास्टर के रूप में तथा कॉलेजों में प्राध्यापक के रूप में भी कार्य किया और अच्छी प्रसिद्धि अर्जित की। जब वे श्रीरामकृष्ण से पहली बार मिले, तो पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित मेट्रोपॉलिटन इंस्टिट्यूशन में शिक्षक थे।

श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने के शीघ्र बाद ही उन्होंने दर्जनों ऐसे लड़कों की उनसे भेंट करायी, जो आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कारी प्रतीत होते थे; इसीलिए श्रीरामकृष्ण के भक्तगण विनोद में उन्हें 'लड़का भगानेवाला मास्टर'[३] भी कहा करते थे।

तत्कालीन अन्य 'इंग्लिशमैनों'[४] की तरह 'म' की भी पश्चिमी दर्शन तथा विज्ञान में अभिरुचि हो गयी। केशवचन्द्र सेन के चुम्बकीय व्यक्तित्व से, विशेषकर उनकी सशक्त वक्तृताओं से आकर्षित होकर 'म' ब्राह्मधर्म की ओर झुके और उसी में अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को तुष्टि प्रदान करने का प्रयास किया। सम्भव है कि उन्होंने ब्राह्मसभाओं में या ब्राह्मभक्तों की गोष्ठियों में ही सर्वप्रथम दक्षिणेश्वर के परमहंस की बात सुनी हो। केशवचन्द्र के प्रशंसक के रूप में उन्होंने 'इंडियन मिरर', 'थीइस्टिक क्वार्टरली रिव्यू' आदि में परमहंसदेव के बारे में अवश्य पढ़ा होगा। फिर, उनके एक निकट-सम्बन्धी नगेन्द्रनाथ गुप्त,[५] श्रीरामकृष्ण से १८८१ में मिले थे।

१. 'म' कृत श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, सं. १९९९, पृ. ४०२

२. भवतारिणी अर्थात् जगदम्बा काली का मन्दिर, जो उन दिनों रानी रासमणि के नाम पर रासमणि के मन्दिर के नाम से विख्यात हो रहा था। रानी ने नौ लाख रुपये व्यय करके इसका निर्माण कराया था और ३१ मई १८५५ ई. के दिन देवी की प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

३. स्वामी सारदानन्द कृत 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग ३, द्वि. सं., पृष्ठ १४५। यह सुनकर श्रीरामकृष्ण कहा करते, "उसका यह नाम उपयुक्त ही है।"

४. श्रीरामकृष्ण महेन्द्र एवं अन्य अँगरेजी-शिक्षित युवकों को 'इंग्लिशमैन' कहा करते थे। द्रष्टव्य – 'वचनामृत', भाग २, पृ. ११२२

५. नगेन्द्रनाथ गुप्त (लाहौर के 'दि ट्रिब्यून' के सम्पादक) १९४७ ई.

उन्होंने 'म' को अपनी इस मजेदार भेंट की कथा सुनायी थी और उनके शीघ्र दक्षिणेश्वर जाने पर बल दिया था। सम्भव है कि इसने भी महेन्द्र को परमहंस से मिलने के लिए प्रेरित किया हो। तथापि दक्षिणेश्वर के सन्त के बारे में जानकारी की यह पृष्ठभूमि इतनी पर्याप्त नहीं थी कि वह धार्मिक प्रवृत्तिवाले इस स्कूल मास्टर को यथार्थ में दक्षिणेश्वर जाने को प्रेरित करती।[६]

कालेज में पढ़ते समय ही उनका निकुंज सेन से विवाह हो गया था, जो रिश्ते में केशवचन्द्र सेन की बहन थीं। इस विवाह के बाद ही महेन्द्र का पारिवारिक जीवन आँधी-तूफानों से घिर गया। विपरीत परिस्थितियों ने उनके जीवन को ऐसा दूभर बना दिया कि विनीत और शान्त महेन्द्र एकदम क्षुब्ध हो उठे, यहाँ तक कि वे आत्मघात तक कर लेने की बात सोचने लगे। मन की ऐसी विक्षुब्ध स्थिति में वे एक रात दस बजे के बाद घर से निकल पड़े। वह एक शनिवार था। निकुंजदेवी ने पति के मनोभाव को भाँप लिया और वे भी बच्चों को साथ लेकर उनके साथ चल पड़ीं। जब वे बग्घी में जा रहे थे, तो श्यामबाजार के पास उसका एक चक्का निकल गया। महेन्द्र ने वह रात पास ही रहनेवाले अपने एक मित्र के यहाँ बिताने का निश्चय किया। पर उन्हें तथा उनके परिवार को वहाँ जो ठण्डा स्वागत मिला, उससे वे इतने खिन्न हुए कि उन्होंने तत्काल मित्र का घर छोड़ दिया। वे उस मुहल्ले के अस्तबल में आये और बग्घीवाले को किसी प्रकार वराहनगर तक पहुँचा देने के लिए राजी किया। वहाँ जाकर वे अपने बहनोई ईशान कविराज[७] के घर ठहरे।[८]

यद्यपि 'म' की बड़ी बहन ने अपने भाई तथा भाभी का स्नेहपूर्वक स्वागत किया, परन्तु अपने पारिवारिक जीवन के कटु अनुभवों का संत्रास 'म' के मन पर ऐसा छाया हुआ था कि उनके लिए जीना दूभर हो गया था। उनके छलनी हुए हृदय की पीड़ा को कुछ कम करने की दृष्टि से उनके मित्र और दूर के सम्बन्धी सिद्धेश्वर मजुमदार (सिधू) उन्हें वराहनगर के कुछ बगीचों में घुमाने ले गये।

वह २६ फरवरी १८८२, रविवार का दिन था।[९] वे कई उद्यानों में निरुद्देश्य टहलते रहे। (वराहनगर में कलकत्ता के बहुत से अमीरों के उद्यान-भवन थे)। जब वे प्रसन्न बनर्जी के बगीचे में घूम रहे थे, तो सिद्धेश्वर ने सुझाया, "गंगा के किनारे एक बड़ा रमणीक स्थान है। जाना चाहोगे? एक साधु परमहंस वहाँ रहते हैं।" 'म' ने स्वीकृति जतायी और वे तुरन्त रासमणि के काली-मन्दिर जाने के लिए दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े। शाम के समय वे लोग उसके प्रमुख द्वार पर पहुँचे।

भीनी वासन्ती बयार बह रही थी। चमेली, जूही और अन्य फूलों की महक हवा में घुली हुई थी। गंगा के तीर पर स्थित उद्यान की झलक ने 'म' के कवि-हृदय को छू लिया। उन्हें हलकापन महसूस हुआ; सुख की अनुभूति हुई। उन्होंने एक कमरा लोगों से भरा देखा। 'म' को पता चला कि परमहंस उसी में रहते हैं और कलकत्ते से अनेक लोग उनका सत्संग करने आते हैं। 'म' भी उन्हें देखने और सुनने को उत्सुक हुए।

वे दोनों परमहंस के कमरे में गये और देखा कि सभी लोग फर्श पर बैठे हुए एकाग्रचित्त से उनकी वाणी सुन रहे हैं। परमहंस एक बड़े तख्त के बगल में लगे एक छोटे तख्त पर पूर्व की ओर मुँह किये बैठे हैं। वे ईश्वर के बारे में बोल रहे थे। उनका स्वर कोमल और मधुर था। 'म' ने देखा कि परमहंस के शरीर का वर्ण कुछ श्यामता लिये हुए है। उनके छोटी-सी दाढ़ी है और आँखें अन्तर्मुखी हैं। वे मध्यम कद के दुबले-पतले व्यक्ति हैं। उनकी उम्र छियालीस साल की थी। वे ग्राम्य बँगला में हल्की तुतलाहट के साथ बोलते थे। 'म' ने कभी किसी के मुख से वैसी मोहक वाणी नहीं सुनी थी, जिससे होकर गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान की अटूट धारा प्रवाहित रही थी।

वे समवेत लोगों को किसी प्रकार बाधा न देते हुए चुपचाप कमरे के एक कोने में खड़े रहे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण वार्तालाप में तल्लीन थे, तथापि उन्होंने इन नवागन्तुकों का आगमन देख लिया था।

'म' तब सत्ताईस वर्ष के थे। वे ऊँचे कद, गौर वर्ण और लम्बी दाढ़ीवाले व्यक्ति थे, जो दूसरों को अपनी विनम्रता, मधुर व्यवहार और शान्त प्रवृत्ति से प्रभावित कर लेते थे। उनकी आँखें बड़ी और खुली थीं। ललाट चौड़ा था तथा चेहरा बुद्धि की आभा से दीप्त था। आध्यात्मिक दृष्टि से

में अपनी 'रिफ्लेक्शंस एंड रेमिनिसेंसेज' नामक पुस्तक में लिखते हैं, "रामकृष्ण को देखने और सुनने के बाद मैं महेन्द्रनाथ गुप्त से मिलने गया। वे मेरे सम्बन्धी थे और उम्र में मुझसे काफी बड़े थे। मैंने उन्हें सब कुछ बताया और उन पर दक्षिणेश्वर हो आने के लिए जोर डाला। वे अगले साल दक्षिणेश्वर गये...।"

६. भले ही नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' (पृ. ११) में यह दावा किया है, "मैं कृतज्ञतापूर्ण तथा विनम्र सन्तोष के साथ इस तथ्य की याद करता हूँ कि मेरे द्वारा निर्दिष्ट होकर ही महेन्द्रनाथ पहली बार रामकृष्ण के पास गये थे...।"

७. ईशान कविराज 'म' की बड़ी बहन के पति थे और वैद्य के रूप से प्रसिद्ध थे। उन्होंने कुछ समय श्रीरामकृष्ण की चिकित्सा की थी। सम्भव है कि 'म' ने ईशान से भी श्रीरामकृष्ण के बारे में सुना हो।

८. 'म' की जीवन-कथा का यह भाग स्वामी नित्यात्मानन्द कृत 'श्रीम-दर्शन' (बंगला ग्रन्थ, भाग १, द्वितीय सं., पृ. २३-२४) की भूमिका के आधार पर लिखा गया है।

९. 'म' की श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट श्रीरामकृष्ण के जन्मदिन (२३ फरवरी १८८२) के कुछ ही दिन बाद हुई थी। 'म' लिखते हैं कि वह रविवार का दिन था, फरवरी माह (वचनामृत, भाग १, पृ. १)। २३ फरवरी और महीने की आखिरी तारीख के बीच केवल एक ही रविवार पड़ता था – २६ फरवरी को।

मानो वे एक ऐसे शुष्क काष्ठ थे, जो धधक उठने के लिए दैवी अग्नि की एक चिनगारी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

'म' को पहली नजर में ही श्रीरामकृष्ण ने उन कतिपय चुने हुए लोगों में से एक के रूप में पहचान लिया, जिनके लिए उन्होंने जगदम्बा के समक्ष रोते हुए कहा था, "माँ, यदि मुझे भक्तों का संग न मिला, तो मेरा अवश्य ही देहान्त हो जायेगा। तू तत्काल उन सबको मेरे पास ले आ।" 'म' को देखते ही श्रीरामकृष्ण आश्चर्य से स्तब्ध रह गये। बाद में उन्होंने 'म' को अपना अनुभव बताते हुए कहा था, "तुम लोग अपने आदमी हो, आत्मीय हो।... मैंने श्रीगौरांग के सांगोपांगों को देखा था; भाव में नहीं, इन्हीं आँखों से।... उनमें शायद तुम्हें भी देखा था। और शायद बलराम को भी। किसी को देखकर झट उठकर क्यों खड़ा हो जाता हूँ, जानते हो? आत्मीयों को दीर्घकाल के बाद देखने से ऐसा ही होता है।"[१०]

श्रीरामकृष्ण कुशल शरीर-लक्षण-विज्ञानी थे। उनके पास जो भी नया आगन्तुक आता, वे क्षण भर में ही उसके अंगों की विशेषता देख लेते और उसकी आध्यात्मिक सम्भावना का आकलन कर लेते। बाद में उन्होंने अपना निष्कर्ष देते हुए कहा था, "मैं तुम्हारी आँखों और चेहरे के लक्षणों से देख सकता हूँ कि तुम योगी हो। तुम उस योगी की भाँति दिखते हो, जो अभी-अभी ध्यान से उठा हो।"

'म' श्रीरामकृष्ण के शब्दों में इतने डूब गये कि उन्हें अपने चारों ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिला। वे वहाँ अवाक् खड़े रहे। अपना पहला अनुभव उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है – "वे एक ऐसे स्थान पर खड़े थे, जहाँ मानो सारे तीर्थ आकर एकत्र हो जाते हैं और जहाँ मानो साक्षात् शुकदेव ही भगवत्कथा कह रहे थे, या पुरी में श्रीचैतन्य – रामानन्द, स्वरूप आदि भक्तों के समक्ष भगवच्चर्चा कर रहे थे।"

श्रीरामकृष्ण कह रहे थे – "जब एक बार हरिनाम या राम-नाम लेते ही रोमांच होता है, आँसुओं की धारा बहने लगती है, तब निश्चित समझो कि सन्ध्या-वन्दन आदि कर्मों की आवश्यकता नहीं रह जाती। तब कर्मत्याग का अधिकार पैदा हो जाता है – कर्म अपने आप छूट जाते हैं।" उन्होंने फिर कहा – "संध्या-वन्दन का लय गायत्री में होता है और गायत्री का ओंकार में।"[११]

'म' ने चारों ओर आश्चर्य से देखा और अपने आप से कहा, "अहा, कैसा मनोहर स्थान है! कैसे मोहक ये व्यक्ति हैं! कितनी सुन्दर इनकी वाणी है! यहाँ से तो जाने की इच्छा ही नहीं होती।"

संध्या हो रही थी। जो दर्शनार्थी अब तक दत्तचित्त बैठे हुए श्रीरामकृष्ण की अमृतवाणी सुन रहे थे, अब उनके मौन हो जाने पर, घर लौटने के लिए उठ खड़े हुए। अब 'म' ने विचार किया, "पहले जरा चारों ओर घूमकर देख लूँ; उसके बाद फिर यहाँ वापस आकर बैठूँगा।"

सिधू के साथ कमरे से बाहर आने पर उन्हें मन्दिर से आ रही सन्ध्या-आरती की सुमधुर ध्वनि सुनायी दी, जो घण्टे-घण्टियों, झाँझ-मजीरों और नगाड़ों के वादन से निकल रही थी। बगीचे के दक्षिणी छोर पर स्थित नौबतखाने से आ रही शहनाई की धुन भी उन्हें सुनायी पड़ी। ये ध्वनियाँ गंगा के वक्ष पर तैरती हुई निकलीं और दूर जाकर विलीन हो गयीं। फूलों की सुगन्ध से महकती वासन्ती बयार धीमे-धीमे बह रही थी; चन्द्रमा उदीयमान था। लगता था मानो प्रकृति और मनुष्य दोनों सान्ध्य-आरती के लिए तैयार हो रहे हैं।

'म' और सिधू – भवतारिणी (काली), राधाकान्त (कृष्ण) और द्वादश शिव-मन्दिरों में भी गये और देवताओं की आरती देखी। आरती समाप्त होने पर दोनों मित्र पुन: श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर आये। उन्होंने दरवाजा बन्द देखा। द्वार पर वृन्दा (कहारिन) खड़ी थी। उससे पूछने पर 'म' को पता चला कि परमहंस अपने कमरे में हैं और यह भी कि वे कोई पुस्तक नहीं पढ़ते, क्योंकि 'सभी पुस्तकें उनके मुँह में हैं।'

'म' ने पूछा – "अब तो ये शायद सन्ध्या करेंगे? – क्या हम भीतर जा सकते हैं? एक बार खबर दे दो न?"

वृन्दा – "तुम लोग जाते क्यों नहीं? जाओ, भीतर बैठो।"

कमरे में प्रविष्ट होकर 'म' ने हाथ जोड़कर श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाकर वे और सिधू नीचे फर्श पर बैठ गये। श्रीरामकृष्ण के कमरे में अभी-अभी धूना दिया गया था और वे छोटी चौकी पर बैठे हुए थे। श्रीरामकृष्ण के प्रश्नों के उत्तर में 'म' ने अपने बारे में जानकारी दी। पर 'म' ने देखा कि श्रीरामकृष्ण बीच-बीच में अन्यमनस्क हो जाते हैं। बाद में उन्हें पता चला कि इसी को 'भाव' कहते हैं और यह कि संध्या के बाद श्रीरामकृष्ण प्राय: ही इस भाव में चले जाते हैं; कभी-कभी तो अपना बाह्य ज्ञान भी पूरी तरह खो बैठते हैं। 'म' ने कहा, "अब तो आप संध्या करेंगे। तो हम चले?" श्रीरामकृष्ण (भाव में) – "नहीं – संध्या? ऐसा कुछ नहीं।"

वार्तालाप कुछ क्षण चला। फिर 'म' ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया और उनसे विदा ली। श्रीरामकृष्ण ने मधुर स्वर से कहा, "फिर आना।"

श्रीरामकृष्ण ने उनका हृदय चुरा लिया था। जब से वे श्रीरामकृष्ण से मिले थे, वे अपने हृदय में एक खिंचाव का अनुभव कर रहे थे। उन्हें बारम्बार उनके आनन्दमय रूप का स्मरण हो आता और उनकी मोहक वाणी याद आ जाती।

उनके साथ हुई दूसरी भेंट में श्रीरामकृष्ण ने उन्हें सलाह

१०. 'वचनामृत', भाग १, सं. १९९९, पृ. ३६२

११. वही, पृ. १-२

दिया – "सारे काम करना चाहिए, परन्तु मन ईश्वर में रखना चाहिए। माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सबकी सेवा करते हुए इस बोध को दृढ़ रखना चाहिए कि ये हमारे कोई नहीं हैं।"[१२]

तीसरी भेंट के समय, श्रीरामकृष्ण ने 'म' के समक्ष एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया, जिस पर संसार की कई जिम्मेदारियाँ थी और उनसे कहा – "कभी-कभी साधुओं का संग करना चाहिए और कभी-कभी निर्जन स्थान में ईश्वर का स्मरण और विचार। परमात्मा से भक्ति और विश्वास के लिये प्रार्थना करनी चाहिए।"[१३]

अब 'म' ने श्रीरामकृष्ण को पहली बार समाधि में देखा। इसने उनके मन पर अमिट छाप अंकित कर दी और वे अत्यन्त मुग्ध होकर घर लौटे। वे 'अफीम के आदी हो चुके मयूर' की भाँति श्रीरामकृष्ण के पावन सत्संग में इतने डूब गये कि वे श्रीरामकृष्ण-विषयक विचार को क्षण भर के लिए भी अपने मन से दूर नहीं कर पाते थे। उन्हें आश्चर्य होता कि कोई आदमी बिना पढ़े-लिखे कैसे इतना गहरा ज्ञान अर्जित कर सकता है! 'म' के मनोभाव को श्रीरामकृष्ण ने एक सटीक दृष्टान्त के द्वारा समझाया – "वह ('म') सात-आठ बच्चों वाली एक माँ के समान है, जो दिन-रात अपने घर-गृहस्थी के काम-काज में व्यस्त रहती है। पर बीच-बीच में अपने पति की सेवा करने का समय निकाल लेती है।" इस सिद्धान्त से 'म' को ज्ञात हो गया कि किस प्रकार अपने सांसारिक कर्तव्यों और आध्यात्मिक जीवन के बीचसामंजस्य बैठाया जा सकता है।

वे श्रीरामकृष्ण के विचारों से इतने अभिभूत हो गये थे कि उन्होंने उनकी वाणी को सावधानीपूर्वक लिपिबद्ध करना शुरू किया। यद्यपि प्रकट रूप से तो उन्होंने स्वयं के उपयोग के लिए ही ऐसा किया,[१४] परन्तु विभिन्न अवसरों पर श्रीरामकृष्ण की क्रियाओं और उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि 'म' ने मात्र अपनी इच्छा से यह अनुलेखन नहीं किया। लगता है कि यह कार्य एक दैवी योजना का अंग था। बाद में 'म' ने अपना विचार बदल दिया और अपनी डायरी के अंशों को अंग्रेजी में एक पत्रक के रूप में प्रकाशित किया। उसका बड़ा स्वागत हुआ।[१५] बाद में अपने कुछ मित्रों के आग्रह पर उन्होंने इन बँगला वार्तालापों को 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत' शीर्षक के साथ पाँच भागों में प्रकाशित किया,[१६] जो अंग्रेजी में अनुवादित होकर 'द गॉस्पेल ऑफ श्रीरामकृष्ण' नाम से प्रकाशित हुआ।[१७] (महाकवि 'निराला' ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है, जो 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नाम से दो भागों में उपलब्ध है।)

उन्होंने इस 'कथामृत' ग्रन्थ का लेखन तो किया ही, साथ ही उसमें निरूपित एक आदर्श भक्त का जीवन भी बिताया। वे विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे और भोजन, वस्त्र तथा निवास की दृष्टि से अति सहज-सरल भाव से रहते थे, परन्तु ईश्वर के प्रति अपनत्व-विषयक उनकी श्रद्धा एक ज्योति के रूप में प्रज्वलित रही। श्रीरामकृष्ण के जीवन्त आदर्शों में पूरी श्रद्धा रखते हुए वे प्रतिक्षण उन्हें अपने जीवन में रूपायित करने का प्रयास करते रहते थे। अत: उनका जीवन स्पष्ट रूप से इन आदर्शों को प्रतिबिम्बित करता था। इस प्रकार उन्होंने संसार-तप्त लोगों को भगवान श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्ष वचनामृत का पान कराते हुए – उनकी सीमित दृष्टियों के समक्ष विश्व के आध्यात्मिक आधार, अस्तित्व की अखण्डता तथा आत्मा की दिव्यता को अभिव्यक्त करते हुए और ईश्वर की ओर ले जानेवाले स्वर्णिम पथ को दिखाते हुए, उनके जीवन को गहराई तक प्रभावित किया था। ४ जून, १९३२ ई. को उन्होंने अपने नश्वर देह का त्याग कर दिया, परन्तु उनका जीवन-संगीत – 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ सदा-सर्वदा के लिये अमर हो गया है।

❑❑❑

---

१२. वही, पृ. ८ १३. वही, पृ. १५-६

१४. 'वचनामृत', भाग २, सं. १९९९, पृ. ११७५। 'म' गिरीश घोष से – "वह मैंने अपने लिए लिखा है, किसी दूसरे के लिए नहीं। ... जब मेरा देहान्त हो जाएगा, तब पाओगे।"

१५. स्वामी विवेकानन्द ने 'म' को बधाई देते हुए लिखा था – "मित्र, ठीक चल रहा है – अब आपने ठीक-ठीक कार्य आरम्भ किया है। हे वीर, अपने को प्रकट कीजिए! यह जीवन क्या निद्रा में ही व्यतीत होगा? समय बीतता जा रहा है! शाबास, यही तो मार्ग है!" ('विवेकानन्द साहित्य' षष्ठ खंड, प्र. सं., पृ. ३८५)

१६. रामचन्द्र दत्त, तत्त्वमंजरी (बँगला ग्रन्थ), भाग १, पृ. १८४-८७

१७. अल्डस हक्सले ने इस अविस्मरणीय ग्रन्थ के प्रति साधुवाद ज्ञापित करते हुए लिखा, "जहाँ तक मुझे जानकारी है, सन्त-चरित-लेखन के क्षेत्र में 'म' ने यह कृति एक अभूतपूर्व रचना है। अन्य किसी भी सन्त के पास इनके समान योग्य और अथक परिश्रमी बॉस्वेल नहीं रहा।" ('द गॉस्पेल ऑफ श्रीरामकृष्ण' की भूमिका में)
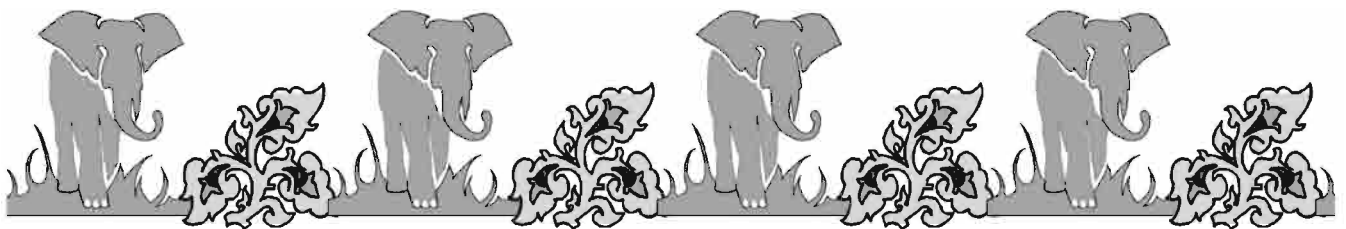
हिन्दी साहित्य और श्रीरामकृष्ण भावधारा (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

छायावाद काल

छायावाद काल के साहित्य में तो यह भावधारा फल्गु धारा के समान साथ-साथ चलती है। इसके प्रमुख रचनाकार हैं – प्रसाद, निराला, पन्त, दिनकर, महादेवी वर्मा आदि। इनमें प्रसाद तथा महादेवी के साहित्य में इन भावों का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता, तथापि इस काल के अधिकांश साहित्यकार इस भावधारा से बड़ी गहराई से प्रभावित हैं।

इस प्रसंग में डॉ. रामजी पाण्डे लिखते हैं, "उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण से ही भारतवर्ष में एक नवीन सांस्कृतिक चेतना की लहर उठने लगती है। निश्चित रूप से इस चेतना के मूल में पाश्चात्य शिबा और वैज्ञानिक आधुनिकता का संस्पर्श था।... श्रीमती (एनी) बेसेंट ने अखिल विश्व का कल्याण हिन्दुत्व के जागरण में माना, पर सांस्कृतिक जागरण का कार्य सर्वाधिक व्यापक स्तर पर पूरा किया रामकृष्ण मिशन ने। इसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द निर्विवाद रूप से आधुनिक युग में वेदान्त के व्यावहारिक आदर्श के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता हैं। भारत के सांस्कृतिक दाय के प्रति उन्होंने विदेशियों का ध्यान आकृष्ट किया और साथ ही अपने देशवासियों को कर्मयोग का उपदेश भी उन्होंने दिया। उनका मानवतावाद वेदान्त-दृष्टि का ही एक विस्तार है और अनेकानेक कवियों-साहित्यकारों का प्रेरणास्रोत बनता रहा है।"[१४]

वे आगे लिखते हैं, "सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में पनपी हिन्दी कविता लगभग प्रारम्भ से ही पुनर्जागरण के स्वर लेकर चलती है। छायावादी युग में आकर यह चेतना विवेकानन्द के प्रभाव में विश्व-मानवतावाद और सार्वभौमवाद के उदय के रूप में प्रकट हुई। अध्यात्म का विश्वात्मवाद विवेकानन्द के माध्य से ही पहले हिन्दी के कवियों के पास आया, पीछे चाहे बहुतों ने उपनिषदों के अध्ययन द्वारा उसे और पुष्ट कर लिया हो।[१५]

निराला और समन्वय – इस काल के प्रमुख साहित्यकारों में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (१८९७-१९६२) अग्रगण्य हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही उनका रामकृष्ण संघ से परिचय कराया था। १९२१ ई. में अद्वैत आश्रम (मायावती) के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी माधवानन्दजी ने हिन्दी में एक मासिक पत्रिका निकालने का संकल्प किया और सम्पादन में एक सहायक प्राप्त करने की इच्छा से उन्होंने कानपुर जाकर आचार्य द्विवेदी से मुलाकात की। उन्होंने 'निराला' को इस कार्य में सहायता के लिए कोलकाता भेजा और १९२२ ई. से 'समन्वय' मासिक निकलने लगा। यह मासिक कुल आठ वर्ष चला और तदुपरान्त किन्हीं अपरिहार्य कारणों से इसका प्रकाशन स्थगित कर देना पड़ा। इस पत्रिका की आठ वर्षों की मुद्रित प्रतियों के देखने से पता चलता है कि उन दिनों हिन्दी के अधिकांश मूर्धन्य साहित्यकार इस पत्रिका के लिये लेखन करते थे, यथा – आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लाला भगवानदीन, लक्ष्मी नारायण गर्दे, बदरीनाथ भट्ट, कामता प्रसाद गुरु, देवीदत्त शुक्ल, नाथूराम शंकर शर्मा आदि, आदि। निराला स्वयं भी पत्रिका के लिये, अभी अपने स्वयं के नाम से, तो कभी 'एक दार्शनिक' के छद्मनाम से लेख, कविता आदि लिखा करते थे। इस पत्रिका के प्रारम्भिक दो वर्षों तक इसके सम्पादक-मण्डल में रहकर निराला ने अपनी सेवा दी और तदुपरान्त बाहर से इसे सहयोग देते रहे। इस कार्य के दौरान निराला स्वामी विवेकानन्दजी के स्वामी सारदानन्द आदि प्रमुख गुरुभाइयों तथा शिष्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे।[१६] स्वामी प्रेमानन्द जी से उनका परिचय तो अपनी तरुणाई में ही महिषादल में रहते समय हो गया था। स्वामी सारदानन्दजी ने उन्हें मंत्रदीक्षा भी दी थी, जिनके विषय में वे कहते थे, "मैं स्वामी सारदानन्द का यंत्र हूँ; ब्रह्म में लीन होकर वे ही मुझसे साहित्य लिखवाते हैं; अन्य सभी साहित्यकार इस अनुभूति से वंचित है।" श्रीरामकृष्ण के इन दोनों शिष्यों के विषय में उन्होंने सुन्दर संस्मरण लिखे हैं।[१७]

निराला ने समन्वय पत्रिका में कार्य करते हुए बँगला से पाँच खण्डों वाले 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' (हिन्दी में दो खण्डों में उपलब्ध 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत'), स्वामीजी के भारतीय व्याख्यान, राजयोग, परिव्राजक आदि कई ग्रन्थ और आठ कविताओं का हिन्दी में अनुवाद किया। फिर श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के जीवन तथा चिन्तन पर उन्होंने लगभग दर्जन भर मौलिक लेख और कई कविताएँ भी रची हैं, जो उनकी ग्रन्थावली में संकलित हुई हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकों की समीक्षा भी लिखी है। 'चोटी की पकड़' नामक अपने उपन्यास को उन्होंने स्वामीजी की पुण्य-स्मृति में समर्पित किया है।

---

१४. सुमित्रानन्दन पन्त : व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ. रामजी पाण्डे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १८९२, पृ. २०

१५. वही, पृ. २४

१६. देखिये निराला रचनावली, (द्रष्टव्य – विवेक-ज्योति, वर्ष १९९५, अंक ३, पृ. ७५ और अंक ४, पृ. ७२)

१७. निराला की साहित्य-साधना, रामविलास शर्मा, पृ. २५१-५२

निरालाजी ने अपनी एक कविता[१९] के माध्यम से भी श्रीरामकृष्ण के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि व्यक्त की है –

पराधीन भारत की प्रज्ञा, क्षीण हुई जब
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णत्रय पश्चिम में गत।
जागे पराशक्ति के वैभव स्वप्रकाश तब,
आर-पार के बिना तार के नाद अनाहत।।

हे समृद्ध, बहुविध साधन से सिद्ध हुए तुम,
अक्षर विविध रूप के, एक बिन्दु में अवसित।
अनायास हे, स्नेह-पाश से विद्ध हुए तुम,
अरचित रुचि की रचनाओं में हुए समाहित।।

अभिनन्दन के नूतन बन्दनवार बने तुम,
तरुणों के उच्छ्वास करों से उत्थित होकर।
जैसे बादल में विद्युत व्यञ्जना घने तुम
खोई सृष्टि सकल नव-जल-धारा में रोकर।।

फिर नूतन प्रभात में नूतन कर से आए,
ज्योतिर्मय, फिर हँसकर दिग्दिगन्त पर छाए।।

सुमित्रानन्दन पन्त (१९००-१९७६) – छायावाद काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में अन्यतम। अल्मोड़ा के पास कौसानी में जन्म हुआ और कॉलेज की शिक्षा हेतु प्रयाग आये। प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की प्राध्यापिका श्रीमती शान्ति जोशी ने दो खण्डों में 'सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और कृतित्व' नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा है, जिसमें पन्तजी के जीवन की अन्तरंग झाँकी मिलती है। यह ग्रन्थ मुख्यत: पन्तजी के साथ लेखिका के साक्षात्कारों तथा भेंट-वार्ताओं पर आधारित है। पन्तजी ने श्रीमती जोशी को बताया था – "नव्य-अध्यात्म अर्थात् स्वामी रामकृष्ण, रामतीर्थ तथा विवेकानन्द के ग्रन्थों से मुझे विशेष प्रेरणा मिली और परमहंसजी का जीवन तो मूर्तिमान रहस्य ही प्रतीत हुआ। मेरी चेतना में चाँदी के सूत्र की तरह पड़ी हुई यह आध्यात्मिक जिज्ञासा मेरे भीतर सदैव एक सजीव शक्ति की तरह वर्तमान रही है, जिसने मेरे बहिर्मुखी जीवन को और भी सीमित तथा सन्तुलित कर दिया। मेरी इस प्रवृत्ति ने मेरे सृजन-प्रेम की आकांक्षा का पोषण ही किया और मेरा एकान्त, साहित्यिक जीवन, अध्ययन-मनन तथा सृजन के प्रयोगों से उर्वर हो उठा।"[१९]

१९१८ ई. में पन्त १८ वर्ष की आयु में अध्ययनार्थ वाराणसी के क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए। उसी वर्ष अठारह वर्ष की अल्प आयु में ही पन्तजी ने स्वामीजी के १८९७ ई. में अल्मोड़ा-आगमन के परिप्रेक्ष्य में 'बाल-प्रश्न' शीर्षक के साथ एक कविता लिखी थी, जो पहली बार उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'वीणा' में संकलित होकर १९२० ई. में प्रकाशित हुई। वह कविता इस प्रकार है –

"माँ, अल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावली की विपुल अमन्द;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि, नहीं चल सकते हैं?
दीपावलि क्यों की? क्या वे माँ,
मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे, स्वामीजी तो दुर्गम
मग पर चलते हैं निर्भय,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कंटकमय;
वह मखमल तो भक्तिभाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के !"[२०]

निरालाजी के साथ पहली मुलाकात के विषय में पन्तजी ने बताया था, "तब निराला का जो चित्र उनकी बातों से मेरे मन में उभरा था, वह एक सिद्ध योगी तथा वेदान्त के विद्वान् का था।... रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द तथा वेदान्त के बारे में वे जिस प्रकार बातें करते थे, उसके सन्दर्भ में उन पर मेरी आस्था जगी। साधुओं के लिये मेरे मन में सदैव से श्रद्धा रही है। निरालाजी को भी साधु-प्रेमी एवं साधु-जीवन का आकांक्षी सोचकर मैं उन पर आस्था रखने लगा।"[२१]

सम्भवत: १९३५ ई. की बात है। लगभग पाँच-महीने उन्हें अत्यन्त निराशा तथा विपन्नता के दौर से होकर गुजरना पड़ा था। इस विषय में पन्तजी ने बताया था, "उस मानसिक अस्वस्थता की स्थिति में मुझे लगता था कि किसी काली अँधेरी शक्ति ने मुझे अपने विकट पाश में जगड़ लिया हो – ऐसी अनुभूति मुझे जीवन में कभी नहीं हुई थी और शायद ही किसी को हुई हो। इसी बीच एक दिन रामकृष्ण मिशन के एक संन्यासी की कृपा से मुझे उस मानसिक ग्रहण से मुक्ति मिल सकी और मेरा मन धीरे-धीरे उस बिखराव तथा अन्धकार से उबरकर प्रकृतिस्थ होने लगा।"[२२]

१८. निराला रचनावली, नई दिल्ली, सं. १९८३, खण्ड २, पृ. १९२; निराला के जीवन के इस आयाम के विषय में विस्तृत जानकारी के लिये देखें – (१) The Spiritual Impact of Ramakrishna-Vivekananda on Nirala, Kamala Ratnam, Prabuddha Bharata, September 1962. तथा (२) विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला), शंकरी प्रसाद बसु, खण्ड ७, पृ. ५००

१९. 'सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और कृतित्व', श्रीमती शान्ति जोशी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. १९७०, खण्ड २, पृ. ८३

२०. स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, कलकत्ता, पृ. ७०

२१. सुमित्रानन्दन पन्त (पूर्वोद्धृत), खण्ड १, पृ. १६८ तथा ३६३

२२. वही, खण्ड १, पृ. ३२५-२६

१९३५ ई. में उन्होंने स्वामीजी के 'संन्यासी का गीत' कविता का हिन्दी अनुवाद किया, जो उनके 'स्वर्णधूलि' ग्रन्थ में संकलित हुआ। १९६२-६३ में जब 'विवेकानन्द-साहित्य' के नाम से स्वामीजी की सम्पूर्ण ग्रन्थावली का हिन्दी संस्करण निकाला जा रहा था, उस समय उन्होंने स्वामीजी की और भी २३ कविताओं का अनुवाद किया था, उपरोक्त ग्रन्थमाला के दसवें खण्ड में संकलित हैं। अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' (१९२४) और 'गुंजन' तथा 'ज्योत्सना' नामक काव्य-संग्रहों पर श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के प्रभाव की बात उन्होंने स्वयं ही स्वीकार की है। श्रीमती जोशी ने लिखा है, "परिवर्तन की प्रेरणा उन्हें स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक निबन्धों के अध्ययन से मिली। वह पन्त की तात्कालिक मानसिक एवं वैचारिक संघर्ष अन्त:स्थिति का भी द्योतक है।"[२३]

रामधारी सिंह दिनकर (१९०८-१९७४) – राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ में 'धर्म के जीते-जागते स्वरूप श्रीरामकृष्ण' और 'कर्मठ वेदान्त स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक के साथ दो लेख लिखे हैं, जो किसी भी भाषा में इन दोनों व्यक्तित्वों पर अब तक लिखे गये श्रेष्ठतम लेखों में हैं। दिनकरजी ने इन दो व्यक्तित्वों को कितनी गहराई से समझा था, उसे जानने के लिये उनके कुछ उद्धरणों ही पर्याप्त होंगे – "रामकृष्ण दैवी अवतार की भाँति आये। पृथ्वी पर भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये।... भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगानेवाले जिन अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएँ सुनी जाती हैं, वे झूठी नहीं हैं।... परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले।... रामकृष्ण और विवेकानन्द ये दोनों एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आए। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक समाधि के कमण्डलु में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भागीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डलु से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।... वस्तुत: नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गए, तब असल में, नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण गया था। अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था।... राममोहन, केशवसेन, दयानन्द, रानाडे, एनी बीसेंट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते हैं।... स्वामीजी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने या लज्जित होने की जरूरत नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।... हिन्दुत्व को लीलने के लिए, अँगरेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।"[२४]

दिनकरजी ने माँ सारदा पर भी एक छोटा-सा लेख लिखा है (विवेक-ज्योति, १९९३/४/६६)। इसके अलावा उन्होंने स्वामीजी पर एक रेडियो-रूपक और भंगी से चिलम लेकर पीनेवाली सुप्रसिद्ध घटना का काव्य रूपान्तरण भी किया है, 'जूठी चिलम' शीर्षक युक्त वह कविता इस प्रकार है –

शिष्यों को कर शोक-मग्न हो गए ब्रह्म में लीन
रामकृष्ण जो परम धर्म की मूर्ति, स्नेह के स्वर थे।
कुछ विषाद, कुछ बेचैनी, घबराहट से हो दीन
निकल पड़े सब शिष्य, साधना के निमित्त घर घर से।

उन शिष्यों के मुकुट वीरवर सन्त विवेकानन्द
नगर, ग्राम, वन, विजन, सभी स्थानों में घूम रहे थे।
प्रथम देश-दर्शन से पा प्रेरणा और आनन्द
देशभक्ति के भावों से पूरित हो झूम रहे थे।

चलते चलते एक दिवस देखा कि खेत के पास
एक व्यक्ति ले चिलम मस्त होकर दम खींच रहा है;
फैलाता तम्बाकू का सब ओर महकता वास
घोंट रहा है धुआँ मग्न, कुछ आँखें मींच रहा है।

स्वामीजी ने कहा विरम कर, "भला करें भगवान।
जो सुख लूट रहे, वह क्या मुझको भी पाने दोगे?

२३. वही, खण्ड १, पृ. १९७

२४. भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, इलाहाबाद, सं. १९९४, पृ. ५७४, ५८२, ५८४, ५८६

तम्बाकू की खुशबू से मेरी भी है पहचान ।
बन्धु, एक दम इस सुलफे में मुझे लगाने दोगे?''

तम्बाकू पीने वाले ने कहा – ''हाय, महराज !
पाप कमाकर भला जगत् में हम किस भाँति जिएँगे?
आप साधु हैं, लेकिन मेहतर कहता हमें समाज ।
किस प्रकार फिर आप हमारी जूठी चिलम पिएँगे?''

यह उत्तर सुनकर आगे बढ़ गए विवेकानन्द ।
पर तुरन्त लौटे अन्तर में गाँस कहीं पर खाकर ।
''मूढ़ अभी तक भी बाकी है जात-पाँत का द्वन्द्व?
तू कायथ ही रहा शिखा कटवाकर, सूत्र जलाकर।''

चिलम छीनकर पी ली स्वामीजी ने आँखे मूँद ।
खड़ा देखता रहा ठगा-सा वह मेहतर बेचारा ।
टपकी दृग से उमड़ मौन आनन्द-जलधि की बूँद ।
स्वामीजी ने और जोर से सुलफे में दम मारा ।।

महादेवी वर्मा (१९०७-?) – सरसरी तौर पर देखने से उनके साहित्य में इस भावधारा विषयक कुछ देखने को नहीं मिलता, परन्तु १९७२ या ७३ में लेखक की उपस्थिति में माँ श्रीसारदा देवी के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में इलाहाबाद के रामकृष्ण मठ में उनका व्याख्यान हुआ था। तदुपरान्त सन् १९७७ ई. में वे पुन: रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के एलोपैथिक चिकित्सालय के उद्घाटन के अवसर वे आयीं और उपस्थित सभा को सम्बोधित किया था।

डॉ. रामकुमार वर्मा (१९०५- ?) – इसी युग के विख्यात कवि तथा नाट्यकार डॉ. वर्मा ने स्वीकार किया है कि वे स्वामीजी के अनुरागी थे; स्वामीजी का प्रभाव उनके जीवन पर अनेकों प्रकार से प्रभावी हुआ था और उन्होंने स्वामीजी पर कई कविताएँ भी लिखी हैं।[२६]

छायावादोत्तर काल

(४) छायावादोत्तर काल – के साहित्य में यत्र-तत्र इस भावधारा के तत्त्व दीख पड़ते हैं।

फणीश्वर नाथ रेणु (१९२१-१९७७) बिहार के पूर्णिया जिले में रेणुजी का जन्म हुआ और बचपन से ही उत्तर भारत एवं नेपाल के समाजवादी आन्दोलनों से जुड़े रहे। कई बार जेल भी गये। १९५२-५३ में वे गम्भीर क्षय रोग से ग्रस्त हुए। मरणासन्न अवस्था में अस्पताल के बिस्तर पर पड़े थे। उसी समय उन्हें एक अलौकिक अनुभूति हुई। एक वृद्ध के रूप में श्रीरामकृष्ण उनके निकट आये और बातें भी कीं। आश्चर्यजनक रूप से नीरोग हो गये। तदुपरान्त साहित्य-सृष्टि आरम्भ की।[२७] १९५४ में उनका प्रथम आंचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' का प्रकाशन हुआ। १९६० से वे पटना के रामकृष्ण मिशन में आने लगे। १९६२-६३ में 'विवेकानन्द-साहित्य' नाम से दस खण्डों में स्वामीजी की सम्पूर्ण ग्रन्थावली की प्रस्तुति के समय उनकी अप्रकाशित पत्रावली के अनुवाद का कार्य रेणुजी को ही सौंपा गया था। १९६४ में उन्हें स्वामी माधवानन्द जी से मंत्रदीक्षा मिली। अनेक खण्डों में प्रकाशित रेणुजी की ग्रन्थावली में सर्वत्र ही श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पटना के आश्रम में स्थित छात्रावास के जीवन के आधार पर स्वाधीनता-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में उन्होंने अपने 'कितने चौराहे' उपन्यास की रचना की, जो १९६६ में प्रकाशित हुई। उनकी एक कथा के आधार पर फिल्म का भी निर्माण हुआ है।[२८]

स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर साहित्य अकादमी ने प्रमुख फ्रांसीसी साहित्यकार रोमाँ रोलाँ द्वारा लिखित स्वामी विवेकानन्द की जीवनी का हिन्दी अनुवाद कराकर प्रयाग के लोकभारती प्रकाशन द्वारा मुद्रित कराया। इसके अनुवादक थे – **अज्ञेय** के उपनाम से विख्यात हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन।

नरेन्द्र कोहली वर्तमान काल के एक प्रमुख कथाकार तथा व्यंग्य-लेखक हैं। उन्होंने ६० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की है। अनेक खण्डों में रामायण तथा महाभारत पर उपन्यास लिखे हैं। स्वामीजी के जीवन पर आधारित उनका अति लोकप्रिय उपन्यास '**तोड़ो, कारा तोड़ो**' अनेक पत्र-पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा है। इसके प्रथम दो खण्डों का प्रकाशन १९९३-९४ में, तीसरे-चौथे खण्ड का प्रकाशन २००४-०५ में तथा पाँचवें खण्ड का प्रकाशन २००८ में हुआ। छठा खण्ड २०११ में प्रकाश्य है। इसके कम-से-कम दो खण्ड और भी लिखे जाने हैं। यह उपन्यास-शृंखला किसी भी भाषा में स्वामीजी के जीवन पर रची गयी अब तक की दीर्घतम एवं सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृति है। विवेक-ज्योति के मार्च २००५ अंक में उन्होंने 'अपने सृजन से गुजरते हुए' लेख में बताया है कि इस ग्रन्थ की रचना करने हेतु रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य के गहन अनुशीलन ने किस प्रकार उनके विचारों तथा लेखन में एक स्थायी रूपान्तरण ला दिया है।

इसके अतिरिक्त और भी असंख्य छोटे-बड़े हिन्दी साहित्यकारों ने श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य में योगदान करके इसे समृद्ध बनाया है और इस उदात्त साहित्य के प्रभाव से विगत शताधिक वर्षों का हिन्दी साहित्य भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित तथा समृद्ध हुआ है। ❑❑❑

२५. स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, प्र. सं. २००२, पृ. २६ तथा २५३

२६. विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला ग्रन्थ), शंकरी प्रसाद बसु, कोलकाता, खण्ड ७, प्रथम सं., पृ. ५११ (पाद-टिप्पणी)

२७. देखिये विवेक-ज्योति – १९९१, अंक १, पृ. १४

२८. द्रष्टव्य – समकालीन (पूर्वोद्धृत), खण्ड ७, पृ. ५११-१९

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

बंगाल में महावीर हनुमान की पूजा, परिच्छेद १

पवित्रता ही प्राप्त करने योग्य है

आज कृष्णपक्ष की एकादशी, ३ दिसम्बर १९१५ ई., शुक्रवार का दिन है। मठ के Visitors' room (अतिथि-कक्ष) में संध्या के उपरान्त महावीर हनुमान की पूजा, आरती तथा राम-नाम-संकीर्तन होनेवाला है। अपराह्न से उसी का आयोजन चल रहा है। दिनकर अस्ताचल को गये। ठाकुर की दैनन्दिन आरती आरम्भ हुई। तदुपरान्त सुललित स्तव के मधुर संगीत की ध्वनि भक्तों के चित्त को आमोदित करते हुए क्रमश: नीलाकाश में विलीन हो गयी। भक्तगण ने साष्टांग प्रणत होने के बाद ठाकुर के चरणामृत का पान किया।

रात के लगभग सात बजे होंगे। महावीर की पूजा, भोग तथा आरती समाप्त हुई। अब मधुर रामनाम-संकीर्तन का गायन होगा। आचार्य श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द की हार्दिक इच्छा थी कि भावी भारत के आशा-केन्द्र युवा तथा महिलाओं के भीतर संयम तथा ब्रह्मचर्य के आदर्श की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए बंगाल में ब्रह्मचर्य-मूर्ति महावीरजी की उपासना का प्रवर्तन हो। तदनुसार स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने प्रत्येक एकादशी के दिन मठ के केन्द्रों में महावीर की पूजा तथा रामनाम-संकीर्तन आरम्भ किया। महातपस्विनी अंजना के नन्दन हनुमानजी का जीवन एक आदर्श जीवन है।

अब संकीर्तन शुरू होगा। श्रीराम-गतप्राण, दास्य-भक्ति के चरम आदर्श, इष्टनिष्ठा के प्रतीक, पवनपुत्र, महावीर हनुमान अपनी अंजलि में मस्तक को टेके हुए आकुलतापूर्वक, अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ, रुद्ध तथा गद्‌गद कण्ठ से श्रीरघुवीर के चरणों में प्रार्थना कर रहे हैं –

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च ।।

– हे रघुकुल-तिलक रामचन्द्र, मुझे शुद्धा भक्ति तथा निर्भरता प्रदान करके – मेरे मन को काम आदि दोषों से मुक्त कर दीजिये। आप ही मेरे तथा अखिल जगत् के अन्तरात्मा हैं। मैं सत्य कहता हूँ – इसके अतिरिक्त मेरे मन में अन्य कोई कामना नहीं है।''

मठ के शुद्ध-सत्त्व साधु-भक्तों ने भी महावीर के हृदय से हृदय मिलाकर परम भक्तिपूर्वक इस प्रार्थना के साथ संकीर्तन आरम्भ किया। पूरे एक सौ आठ पंक्तियों का रामचरित गाया गया। महावीर के भावों में विभोर भक्तिमान बाल-ब्रह्मचारी साधु-भक्तों द्वारा गाया हुआ रामनाम-संकीर्तन सुनकर सबके प्राण शीतल हुए। श्रोता भक्तगण मानो अंजलि भर-भरकर अपने कानों से यह मधुर नामामृत पान करने लगे। दास्य भक्ति के मूर्त विग्रह पवन-नन्दन महावीर मानो वहाँ साक्षात् प्रगट हो गये थे। बाबूराम महाराज – पुष्पमाला से सुशोभित महावीर के चरणों के पास दक्षिण की ओर मुख किए बैठे गायन सुन रहे हैं। बीच-बीच में उन्हें भाव हो रहा है। अन्त में नामामृत आदि गाया गया –

राम राम जय राजा राम, राम राम जय सीताराम;
सीताराम जय राजाराम, राजाराम जय सीताराम।
सीताराम सीताराम सीताराम, राजाराम राजाराम;
जय जय सीता जय जय राम, राम राम सीताराम।

इसे सुनते-सुनते बाबूराम महाराज के पूत देव-शरीर में अश्रु, पुलक आदि गम्भीर भाव के सारे लक्षण प्रकट होने लगे। संकीर्तन समाप्त होने पर सभी लोग परम भक्तिपूर्वक महावीर तथा बाबूराम महाराज के चरणों में प्रणत हुए। बाबूराम महाराज ने भी साष्टांग भूमिष्ठ होकर आदर्श-चरित महावीरजी को प्रणाम किया।

साधु-भक्तगण स्वामी प्रेमानन्दजी का वचनामृत पान करने की इच्छा से उनका मुँह जोहते हुए बैठे रहे। भक्त-वत्सल श्रीरामकृष्ण-गतप्राण महाराज ठाकुर को प्रणाम करने के बाद कहने लगे, ''अभी तक इस जगत् में श्रीरामकृष्ण के समान किसी पवित्र व्यक्ति ने जन्म नहीं लिया है। वे अपवित्र व्यक्ति का स्पर्श तक नहीं कर पाते थे। ऐसे किसी व्यक्ति के छूने पर वे 'आह' बोलकर चिल्ला उठते थे। पवित्रता ही धर्म है, पवित्रता ही शक्ति है; वे पवित्रता की सघन मूर्ति थे।

''तुम लोग उनका आदर्श सामने रखकर मन को पवित्र कर डालो। मन में जब भी काम-कांचन, ईर्ष्या-द्वेष या स्वार्थपरता घुसने का प्रयास करे, तभी ठाकुर-स्वामीजी का स्मरण करते हुए उन सभी अपवित्रताओं को 'दुर-दुर' करके भगा देना और बीच-बीच में पवित्रता के इन मंत्रों की आवृत्ति करते रहना –

पवित्रता के मंत्र

त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जा-स्नायवो-ऽस्थीनि मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा –

हे प्रभो, मेरी त्वचा, चर्म, मांस रुधिर, मेद, मज्जा, स्नायु तथा अस्थियाँ शुद्ध हों; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **शिर:पाणि-पाद-पार्श्व-पृष्ठोरूदर-जङ्घ-शिश्नोपस्थ-पायवो मे शुध्यन्तां ज्योति-रहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – मेरे सिर, हाथ, पैर, बगल, पीठ, पेट, जाँघ, शिश्न, गुदा शुद्ध हों; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **वाङ्मनश्चक्षुश्श्रोत्र-जिह्वाघ्राण-रेतो-बुद्ध्याकूतिस्संकल्पा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – मेरी वाणी, मन, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, बुद्धि, संकल्प आदि शुद्ध हों; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **प्राणापान-व्यानोदान-समाना मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – मेरे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान – वायु शुद्ध हों; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **उत्तिष्ठ पुरुष हरितपिङ्गल लोहिताक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – हे हरित पिंगल लोहिताक्ष पुरुष, उठो, मुझे प्रदान करो, प्रदान करो, मुझे पवित्र करो; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **पृथिव्यापस्तेजो-वायुराकाशा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश शुद्ध हों, पवित्र हों; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। मेरा स्थूल शरीर शुद्ध हो; आत्म-स्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ।

आत्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा – मेरा स्थूल शरीर शुद्ध हो; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **अन्तरात्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – मेरा सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **परमात्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – मेरा कारण शरीर शुद्ध हो; आत्म-स्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ। **शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा** – मेरे लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – सभी शुद्ध हों; आत्मस्वरूप मैं रज:शून्य तथा निष्पाप हो जाऊँ।''*

सभी मौन, निस्तब्ध तथा ध्यानस्थ हैं। सबका मन एक ऐसे अज्ञात पवित्रतामय भावराज्य में उन्नीत हो गया था, जिसे भाषा द्वारा व्यक्त कर पाना असम्भव है। ये केवल मौखिक उपदेश नहीं, बल्कि आध्यात्मिक भाव-संचार हैं। सुननेवालों का मन भी तीन-चार सीढ़ियाँ ऊपर उठ जाया करता था।

मन के द्वार का प्रहरी है ज्ञान

थोड़ी देर मौन रहने के बाद महाराज पुन: कहने लगे, ''तुम सभी पवित्र हो जाओ। ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थपरता, अहंकार आदि को झटककर साफ कर दो। मन के द्वार पर सर्वदा ज्ञान-प्रहरी को बैठाए रखो – सावधान ! मन में अपवित्र भाव न घुसने पाये। ये ही ईश्वरीय पथ के कण्टक हैं।

''मन को तपस्या तथा वैराग्य की अग्नि में जला डालो, नष्ट कर डालो। इसी भाव में जीवन को गढ़ डालो, तो समझूँ। तभी तो भगवान की कृपा, उनकी सत्ता की उपलब्धि कर सकोगे। तब देखोगे कि तुम लोगों तथा प्रत्येक जीव के भीतर एक ही अनन्त-शक्तिमान, आनन्दमय प्रभु निवास कर रहे हैं। स्वयं अच्छी तरह देख पा रहा हूँ, परन्तु हाय ! जीव ऐसा अन्धा है, ऐसा मूर्ख है कि उनकी ओर दृष्टि ही नहीं है – वह तो बस, तुच्छ काम-कांचन की ओर ही गिद्ध-दृष्टि रखता है !

साधु जगद्गुरु हैं

''यदि साधु होने आये हो, तो स्वार्थ तथा अहंकार की बलि चढ़ा दो। तभी ठीक-ठीक साधु हो सकोगे ! साधु जगद्गुरु हैं। भागवत में लिखा है कि जो लोग ठीक-ठीक साधु हैं, वे भगवान के सचल विग्रह हैं। ठाकुर कहते थे – 'मैं मरा कि बला टली। नाहं, नाहं, नाहं, तूहू, तूहू, तूहू'।''

इतना कहकर महाराज भावविभोर हो गये और आँखें मूँदे हुए तालियाँ बजा-बजाकर धीमे स्वर में बारम्बार 'जय प्रभु, जय प्रभु, नाहं, नाहं, नाहं, तूहू, तूहू, तूहू' का उच्चारण करने लगे। महाराज फिर कहने लगे, ''चित्तशुद्धि की ओर ध्यान न देकर क्या केवल व्याख्यान द्वारा धर्म होता है? इससे अहंकार बढ़ता है, व्यक्ति ईश्वर के मार्ग में पिछड़ जाता है। क्या केवल बातें करने से काम होता है? **नैषा तर्केण मतिरापनेया** – धर्म के बारे में व्याख्यान तो बहुत-से लोग दे रहे हैं, ग्रन्थ भी लिख रहे हैं, परन्तु कितने लोग उसे ग्रहण कर रहे हैं? प्राणों के भीतर भिंदे बिना भी क्या कोई लेता है?

मुख नहीं, कार्य बोले

''जीवन के द्वारा दिखाओ, तभी लोग तुम्हारी बातें सुनेंगे। मैं जीवन चाहता हूँ – ज्वलन्त जीवन। तुम्हारे मुख बन्द रहें, कर्म ही बातें करें। मुख से न कहकर कार्य के द्वारा दिखा दो कि तुम किसके शिष्य हो ! तुम लोग माँ ब्रह्ममयी के बेटे हो, ठाकुर-स्वामीजी की सन्तान हो, तुम्हारे लिए जागतिक नाम-यश थूक के समान तुच्छ हो जाय। लोग भला कहें या बुरा – उस ओर दृष्टिपात न करते हुए, हृदय-मन को पवित्र करके उसमें माँ तथा ठाकुर को बिठाने के बाद उनके यंत्र-स्वरूप होकर मन-मुख एक करके चुपचाप कार्य किये जाओ। यह मठ शोरगुल मचाने की जगह नहीं है, बल्कि ठीक-ठीक मनुष्य तैयार करने के लिए ही स्वामीजी यह मठ गढ़ गये हैं। धर्महीन और चरित्रहीन रहकर केवल किताबी विद्या से मनुष्य का निर्माण नहीं होता। यहाँ पर शिक्षा समाप्त करके जो लोग

* महानारायण उपनिषद्, ६६/१-७ (द्रष्टव्य – श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड १, सं. २००८, पृ. २७४-७५)

उत्तीर्ण होंगे, वे ही जगत् में आदर्श चरित्रवान व्यक्ति होंगे।

पवित्रता और प्रेम चाहिये

''रुपयों से कुछ भी नहीं होता, चरित्र तथा प्रेम से ही सब कुछ होता है। ठाकुर ने जब देहत्याग किया, तो वे हमारे लिए क्या छोड़ गये थे? कुछ भी तो नहीं, बस वृक्ष के नीचे कुछ छोकरों को छोड़ गये थे। स्वामीजी क्या उसी समय उनका अवतार के रूप में प्रचार नहीं कर पाते? परन्तु उन्होंने कहा, 'केवल व्याख्यान न देकर जीवन के द्वारा दिखाना होगा कि वे अवतार थे या नहीं।' उनके भाव में जीवन-गठन किये बिना केवल 'अवतार-अवतार' कहकर चिल्लाने से क्या होगा?

विवेकानन्द-महिमा

''हर युग में अवतार पूर्ण होकर आते हैं। जिस युग की जैसी जरूरत हो, उसी रूप में उनका प्रचार करना होगा। शुद्ध स्वर्ण से आभूषण नहीं गढ़ा जा सकता, इसीलिए ठाकुर स्वयं प्रचार नहीं कर सके। स्वामीजी के खूब उच्च आधार होने के कारण, वे उन्हीं को प्रचार का उत्तरदायित्व दे गये थे।

''नरेन (स्वामी विवेकानन्द) को वे इतना प्यार करते थे कि कई लोग कहते कि 'नरेन' का चिन्तन करते-करते आप भी जड़भरत के समान हो जायेंगे। ठाकुर बोले, 'क्या कहा? मैं क्या जड़ नरेन का चिन्तन करता हूँ कि वह अमुक का लड़का है, अमुक जगह उसका घर है, विद्या है, बुद्धि है, गाना-बजाना जानता है! माँ ने मुझे दिखा दिया है कि वह साक्षात् शिव है, जीवशिक्षा के लिए स्थूल शरीर धारण करके आया है। उसको खिलाने से लाखों साधुओं को खिलाने का फल होता है।''

राजर्षि भरत का उपाख्यान

थोड़ी देर मौन रहने के बाद बाबूराम महाराज ब्रह्मचारियों से कहने लगे, ''भरत की कथा जानते हो न? भागवत में है।''

कथा इस प्रकार है – प्राचीन काल में भारतवर्ष अजनाभवर्ष के नाम से प्रसिद्ध था। मनुपुत्र भगवद्भक्त महाज्ञानी प्रियव्रत के वंश में साक्षात् भगवान ऋषभदेव अवतीर्ण हुए। उन्होंने इन्द्र की पुत्री जयन्ती का पाणिग्रहण किया था, जिनके गर्भ से उन्हीं के समान सौ पुत्र हुए। महायोगी और महाज्ञानी भरत इन्हीं भगवान ऋषभदेव की ज्येष्ठ सन्तान थे। भगवान ऋषभ ने भरत के ऊपर राज्य-शासन का भार सौंपा और अन्य पुत्रों को उन्हीं के अधीन रहने का आदेश देकर उन्होंने संसार का त्याग कर दिया। परम भागवत महाज्ञानी राजा भरत प्रजा का अपने ही पुत्रों के समान पालन करने लगे। उनके राज्यकाल के दौरान उनके असाधारण गुणों की ख्याति फैल जाने के फलस्वरूप इस अजनाभ देश का नाम भारतवर्ष हो गया। उन्होंने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह किया था।

राजर्षि भरत अपने समस्त कर्मों का फल ईश्वर को समर्पित करते हुए बहुत से यज्ञ तथा प्रजा का पालन किया करते थे। अपनी अन्तिम आयु में उन्होंने अपना साम्राज्य पुत्रों के बीच बाँट दिया और स्वयं संन्यास लेकर एकाकी रहने के लिए गण्डकी नदी के तट पर स्थित पुलहाश्रम के उपवन में चले गये। वहाँ वे शम-दम आदि का अभ्यास करते हुए भगवान की पूजा, अर्चना आदि में लगे रहकर परम आनन्दपूर्वक समय बिताने लगे। महाराज भरत का हृदय क्रमश: प्रेम तथा भक्ति के रस से द्रवीभूत हो गया। भगवान की अचिंत्य महिमा के स्मरण-मनन के अतिरिक्त अन्य सभी उद्यम उनके हृदय से चले गये। प्राणाराम भगवान वासुदेव के श्रीपादपद्मों के चिन्तन से उनके हृदय में भावों की बाढ़ आ जाती। एक दिन सन्ध्या के समय राजर्षि भरत गण्डकी नदी के तट पर बैठे हुए थे, उसी समय एक गर्भवती हिरनी वहाँ उतरकर पानी पी रही थी, तभी निकट ही एक सिंह की गर्जन सुनायी दी। उस गर्भवती हिरनी ने सहसा भयभीत तथा आकुल होकर छलांग लगाकर नदी पार करने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप उसका गर्भ स्थानच्युत हुआ और एक छोटा-सा मृगशावक नदी में गिर पड़ा और इसके साथ ही उस हिरनी के प्राणपखेरू उड़ गये।

इधर मातृहीन मृगशावक को पानी में डूबते देख राजर्षि भरत को दया आ गयी। वे उस बच्चे को उठाकर अपने आश्रम में ले आये। उस मृगशावक का बड़े यत्नपूर्वक लालन-पालन करते हुए क्रमश: महाराज भरत का अपना साधन-भजन शिथिल हो गया। अपनी तपस्या तथा योग के अनुष्ठान में काफी बाधा आने पर भी मृगशावक के बारे में चिन्ता करना छोड़ नहीं सके। क्रमश: उनका अन्तिम काल आ पहुँचा। अपनी मृत्यु-शय्या पर मरणासन्न अवस्था में पड़े हुए भी भरत हिरण की चिन्ता छोड़ नहीं सके। इसी प्रकार उनका देहान्त हो जाने पर अगले जन्म में उन्हें मृग का शरीर प्राप्त हुआ था।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव-भावितः।। गीता, ८.६

– हे अर्जुन, अपने अन्त समय में प्राणी जिस-जिस भाव (देवता) का स्मरण करते हुए देहत्याग करता है, उस-उस भाव का चिन्तन करता हुआ, वह उसी-उसी भाव (देवता) को प्राप्त होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१७९. पीड़ित-सेवा धर्म महान्

महाभारत का युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ था। सैनिक रात को अपने-अपने शिविरों में विश्राम करते और सुबह रणभूमि में आकर युद्ध में जुट जाते। एक दिन मध्य रात्रि के समय जब भीम की नींद खुली, तो उसने देखा कि युधिष्ठिर वेष बदलकर हाथ में कुछ लेकर बाहर जा रहे हैं। उसने अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को जगाकर यह बात बताई। वे कुतूहलवश बाहर आये और थोड़ा फासला रखकर युधिष्ठिर के पीछे-पीछे चलने लगे। उन्होंने देखा कि युधिष्ठिर युद्धस्थल में जाकर देख रहे हैं कि वहाँ पड़े शत्रुपक्ष के सैनिकों में कोई घायल तो नहीं हैं और वे उन सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा कर रहे हैं। वे लोग वापस लौट आये।

एक प्रहर बाद जब युधिष्ठिर भी वापस आये, तो भीम ने उनसे प्रश्न किया, "हम धर्म तथा न्याय का युद्ध लड़ रहे हैं। ऐसे समय आपको अन्यायी शत्रुपक्ष के घायल सैनिकों की सेवा करने की क्या जरूरत थी? दिन में आप जिनके साथ युद्ध करते हैं, रात को उन्हीं की सेवा करना क्या विरोधाभास नहीं हुआ?" युधिष्ठिर ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "ये सैनिक भले ही शत्रुपक्ष के हैं, किन्तु यदि युद्ध न होता, तो क्या वे हमारे अपने न होते? फिर दीन-दुखियों की सेवा करना तो मानव धर्म है। इसे तो तुम स्वीकार करोगे न?" "मगर वेष बदलकर जाने की क्या जरूरत थी?" – नकुल द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा, "धर्म कहता है कि दान और सेवा गुप्त रूप से करना चाहिये। वैसे भी यदि मैं वेष न बदलता, तो पहचान लिया जाता और सम्भव है कि मेरी आत्मीयता को आडम्बर कहा जाता। इससे मैं उनकी सेवा करने से वंचित हो जाता, इसलिये मैंने वेष बदलकर जाना उचित समझा।"

१८०. जीवात्मा की गति और गन्तव्य

एक बार गौतम बुद्ध का जब पंचशाल ग्राम में आगमन हुआ, तो वहाँ के ग्रामप्रधान जुलाहे की एक सोलह वर्षीय कन्या चारुलता को साथ लेकर उनसे मिलने गये। वह बालिका बड़ी विचारशील तथा प्रतिभाशालिनी थी। बालिका ने जब बुद्धदेव को दण्डवत् प्रणाम किया, तो उन्होंने क्षण भर उसकी ओर देखने के बाद प्रश्न किया, "बेटी, कहाँ से आई हो?" बालिका ने उत्तर दिया, "भन्ते, जानती हूँ।" बुद्धदेव ने पूछा, "कहाँ जाओगी?" उसने उत्तर दिया, "नहीं जानती।" तथागत बोले, "तो तुम नहीं जानती?" उसने उत्तर दिया, "जानती हूँ कि नहीं जानती।" तथागत ने अगला प्रश्न किया, "क्या तुम सचमुच नहीं जानती?" तो उसने उत्तर दिया, "सचमुच नहीं जानती।"

इन अटपटे उत्तरों को सुनकर वहाँ उपस्थित सभी लोग हैरान रह गये। ग्रामप्रधान ने चारुलता से कहा, "बेटी, आज तुम्हें क्या हो गया है, जो अनाप-शनाप बोले जा रही हो। जानती हो तुम किससे बात कर रही हो? तुममें इतना भी शिष्टाचार नहीं कि सत्पुरुषों के साथ कायदे से बात करो!"

तथागत ने ग्रामप्रधान को बीच में ही रोकते हुए चारुलता से पूछा, "क्या तूने सोच-समझकर जवाब दिये थे?" उसने उत्तर दिया, " हाँ भन्ते, मैं जानती थी कि मैं जुलाहे कि बेटी हूँ और पिता के घर से आ रही हूँ, इसलिये मैंने पहले प्रश्न का 'जानती हूँ' उत्तर दिया। मेरी जीवात्मा कहाँ से आई तथा किन कर्मों के कारण इस जन्म में यहाँ आई – यह बात मुझे मालूम न होने के कारण मैंने उत्तर दिया था, 'जानती हूँ कि नहीं जानती।' आपके अगले प्रश्न का कि 'कहाँ जाओगी' का उत्तर भी मुझे मालूम न होने से मैंने पुन: 'नहीं जानती' जवाब दिया। जुलाहे के घर से आ रही हूँ और यहाँ से वहीं जाना है। यह बात मुझे और सबको मालूम थी। आप भी इसे जानते थे, इसलिये आप यह प्रश्न नहीं करेंगे, यह सोचकर कि आपके पूछने का उद्देश्य यह जानना है कि 'मृत्यु के बाद मैं कहाँ जाऊँगी' और मैं इस बात से भी अनभिज्ञ होने के कारण मैंने इसका उत्तर 'नहीं जानती' दिया था।"

बुद्धदेव बोले, "यह सारा लोक अन्धा बना है। लोगों में देख सकनेवाला कोई विरला ही है। पक्षी जाल में फँस जाते हैं, परन्तु उनमें से कोई विरला ही मुक्त होता है। उसी तरह इन अन्धे लोगों में से विरला ही स्वर्ग में पहुँचता है।"

अन्धभूतो अयं लोको तनुकेथ्थ विपस्सति।
सकुनो जालमुत्तोव अप्पो सग्गाय गच्छति।।

वे उस बालिका की ओर उन्मुख होकर बोले, "बेटी, तू ही नेत्रवान है, क्योंकि तू मनन-चिन्तन को महत्त्व देती है। इसलिये तेरे विचारों में प्रौढ़ता आ गई है। तेरा मस्तिष्क परिष्कृत होने के कारण तू सचमुच प्रज्ञावान है। तूने अपना लक्ष्य पहचान लिया है। तू उसे अवश्य प्राप्त करेगी।"

माँ को जैसा देखा है

स्वामी गौरीश्वरानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(माँ के एक सेवक स्वामी गौरीश्वरानन्द – राममय महाराज की माँ-विषयक स्मृतियाँ हम पहले भी प्रकाशित कर चुके हैं। प्रस्तुत स्मृतियाँ १४ अप्रैल १९७८ ई. को खड़गपुर के दुर्गा-मन्दिर में ठाकुर के जन्मोत्सव के अवसर पर एक सभा में वर्णित हुई थीं।)

मैंने देखा है, माँ के पास भाषा की बाधा नहीं रहती थी। बंगलोर के डिप्टी कमिश्नर नारायण अयंगार जब माँ के पास आये, तब मैं कॉलेज में पढ़ता था। वे बँगला नहीं जानते थे। मैं हर रोज 'कथामृत' का कुछ अंश बँगला से अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें सुनाता। जहाँ-जहाँ मुझे सटीक अंग्रेजी नहीं आती, वे तत्काल वह शब्द बता देते। मैं उन्हें माँ के पास ले जाता। वे जो कुछ बोलते, उसे मैं माँ को बँगला में बताता और माँ जो कुछ कहतीं, उसे अंग्रेजी में बताता। लेकिन मेरे सामने ही यह अद्भुत घटना हुई। माँ ने मुझसे कहा, "बेटा, मैंने इसकी बात समझ ली है।" और कहीं-कहीं माँ ने बँगला में जो कहा, उसका अंग्रेजी में अनुवाद करके बताने के पहले ही उन्होंने कहा, "माँ ने जो कहा है, मैंने समझ लिया है।" बड़ी अद्भुत बात है। यह प्रेम की भाषा है। अपने आप समझ में आ जाता है।

हम लोग जानते हैं, माँ ने कहा है, "यदि शान्ति चाहो, तो किसी के दोष मत देखो। दूसरों के गुण देखना और अपने दोष देखना।" पर हम लोगों की दृष्टि दूसरे के दोष की तरफ ही जाती है, गुण नहीं देखते। लेकिन माँ गुण देखती थीं। एक घटना बताता हूँ। मेरे हेड मास्टर साहब (प्रबोधचन्द्र चट्टोपाध्याय) माँ के मंत्रशिष्य थे। उनके मित्र डॉक्टर नलिनी सरकार भी माँ के शिष्य थे। ये दोनों घनिष्ठ मित्र थे। एक दिन मैं और नलिनी बाबू दोनों खड़े थे। तभी एक भक्त आये, वे माँ के शिष्य तथा स्कूल-शिक्षक थे। वे पास के गाँव के निवासी थे। वे आये और माँ को प्रणाम कर उनकी चरण-धूलि सिर से लेकर "माँ, कैसी हैं?" आदि दो-एक बात कहकर चले गये। जब वे थोड़ी दूर चले गये, तो नलिनी बाबू माँ से बोले, "आपने क्यों उसे चरण-स्पर्श करने दिया?" वे पढ़े-लिखे व्यक्ति स्कूल के शिक्षक तथा माँ के शिष्य थे, पर उनके चरित्र के बारे में कुछ लोग कटाक्ष करते थे। नलिनी बाबू यह जानते थे। माँ ने कहा, "देखो बेटा, मैं अच्छों की भी माँ हूँ; बुरों की भी माँ हूँ। मैं सती की भी माँ हूँ; असती की भी माँ हूँ। मेरे बेटे-बेटियाँ यदि स्वयं को धूल में लोटकर शरीर मैला कर लें, तो क्या मैं उन्हें फेंक दूँगी? मैं माँ जो ठहरी ! मैं उन्हें अपने आँचल से धो पोछकर अपनी गोद में उठा लूँगी।" ऐसी थी माँ। वे सभी को अपने स्नेह के आँचल में ढँककर रखती, किसी के दोष नहीं देखतीं।

कोई-कोई मुझसे पूछते हैं कि माँ डाँटती थीं या नहीं। वैसे तो डाँटती नहीं थीं, तो भी शिक्षा देने के लिये कभी दो-एक बातें कह देती थीं।" मेरे हेडमास्टर प्रबोधचन्द्र चट्टोपाध्याय स्कूल से अस्सी रुपये वेतन पाते थे। उस समय के अस्सी रुपये अब के हजारों रुपयों से भी अधिक होंगे। उस समय रुपये की कीमत अधिक थी। माँ के दिनों में हम लोगों ने जयरामबाटी में दस आने मन आलू और दो रुपये मन चावल खरीदा है। अस्तु, वे कुछ रुपया खर्च करके माँ के लिए फल, मिठाई, पान-सुपारी आदि कितनी ही चीजें सुन्दर ढंग से सजाकर ले आते। वे मन-ही-मन आशा करते कि माँ बहुत खुश होंगी। माँ के चरणों के पास टोकरी रखकर प्रणाम करके उनके उठते ही माँ बोली, "देखो बेटा, ठाकुर की कृपा से मेरा तो सब कुछ जुट जाता है। मुझे कोई अभाव नहीं है। तुम गृहस्थ हो, इतने रुपये क्यों खर्च किये? तुम्हारी पत्नी है, बाल-बच्चों की पढ़ाई-लिखाई है, उनका भरण-पोषण है, फिर तुम्हारे इतना खर्च करने से कैसे चलेगा बेटा?" साथ ही माँ ने एक कड़वी बात भी कही, "बन्दरों के बाल होते हैं, परन्तु वे उसे बाँधना नहीं जानते।" स्त्रियों के लम्बे बाल होने पर वे खूब सुन्दर जुड़ा बाँधती हैं, लेकिन बन्दरों के लम्बे बाल हों, तो भी वे उसे दाँत से नोच डालेंगे। बन्दर कोई जूड़ा तो बाँधेंगे नहीं ! यह बात सुनकर हेडमास्टर महाशय के मन में दुःख हुआ। माँ ने बड़ी कड़ी बात कह दी थी। मास्टर महाशय उस दिन जब प्रणाम करके घर लौटने लगे, तो माँ बोलीं, "देखो बेटा, क्यों कहा जानते हो? तुम गृहस्थ हो न, तुम्हें कुछ संचय करना चाहिये। और बेटा, यदि तुम संचय नहीं करोगे, तो

साधु-संन्यासियों को क्या दोगे? साधु-संन्यासी तो रोजगार नहीं करते। वे गृहस्थ पर ही तो पलते हैं।'' तब मास्टर महाशय खुश हुए, क्योंकि संचय केवल पत्नी तथा पुत्र-पुत्री के भरण-पोषण आदि के लिये नहीं, बल्कि इससे साधु-सेवा होगी। बाद में मास्टर महाशय को बहुत-से साधु-संन्यासियों की सेवा करने का सौभाग्य मिला था।

यहाँ शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) की भी एक ऐसी ही बात याद आ रही है। ज्ञान महाराज उस समय जयरामबाटी में थे। शरत् महाराज उन्हें वहाँ बैठा गये थे। एक तरह से वे ही जयरामबाटी के प्रथम महन्त थे। माँ के शिष्य ललित मोहन चटर्जी ने वहाँ गरीबों को दवा देने के लिए एक धर्मार्थ होम्योपैथिक दवाखाना खोला था। शरत् महाराज मुझसे बोले, ''माँ कलकत्ते जा रही हैं, तू यहीं रहेगा, यहाँ की देखरेख करेगा, ठाकुर की पुस्तकें आदि पढ़ेगा, ठाकुर की पूजा करेगा और डॉक्टर जो दवा लिखेंगे, वह रोगियों को देगा।'' ललित बाबू रुपये इकट्ठा करके भेजते या दवा खरीदकर भेजते। उन्होंने ज्ञान महाराज को रुपयों तथा दवा का हिसाब रखने को कहा। ज्ञान महाराज ने शरत् महाराज से कहा, ''मैं हिसाब नहीं रख सकता और गृहस्थों से रुपये भी नहीं ले सकता।'' सुनकर शरत् महाराज बोले, ''गृहस्थों से रुपये नहीं लेगा? तो ऐसे परमहंस कहाँ मिलेंगे, जो तुझे रुपये देंगे? हम लोग तो गृहस्थों का ही खाकर जीते हैं रे! रामकृष्ण मिशन का जो कामकाज चल रहा है, वह सब गृहस्थों के रुपयों से ही तो चल रहा है। तू गृहस्थों से रुपये नहीं लेगा, तो परमहंस तुझे कहाँ से रुपये देंगे?''

राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) मठ-मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। श्रद्धा के बावजूद हम लोगों को उनके पास जाने में थोड़ा भय भी लगता था, क्योंकि वे बहुत गम्भीर रहते थे। किसी प्रकार प्रणाम करके चला आता। सभी उनसे कतरा कर चलते। लेकिन माँ जब बेलूड़ मठ में आतीं, तब ये ही 'महाराज' गले में कपड़ा लपेटे, हाथ जोड़े, छोटे बच्चे की भाँति माँ के पीछे-पीछे चलते। माँ भी उनसे अत्यन्त स्नेह करतीं। बेलूड़ में एक दिन महाराज जिस प्रकार रोज सुबह उठकर ध्यान करते थे, उसी प्रकार ध्यान कर रहे थे। उस दिन उनका ध्यान इतना गहरा हो गया कि जिस निश्चित समय पर वे चाय पीते थे, वह भी बीता जा रहा था। उनके चाय पीने का एक विशेष तरीका था – चाय अच्छी होनी चाहिये, कप बहुत बढ़िया हो, चाय खूब गरम हो, साथ में थोड़ा नाश्ता भी हो। उस दिन बेलूड़ मठ में महाराज को इस प्रकार ध्यानस्थ देखकर सेवकगण चिन्तित हो गए। समय बीता जा रहा था, पर वे उठ नहीं रहे हैं, नेत्र भी नहीं खोल रहे। तब सेवक उनके कान के पास बोले, ''महाराज, समय हो गया है, कृपया उठिये, चाय पीजिये।'' पर कोई उत्तर नहीं!

माँ उस समय बेलूड़ मठ के 'सोनार बागान' में ठहरी थीं। 'सोनार बागान' कोई स्वर्ण का उद्यान नहीं था। सोनमणि नाम का एक उड़िया माली था, जो उस बगीचे का देखभाल करता था, अत: हम लोग उस बगीचे को 'सोनार बागान' कहते। उस समय वह एक धनी व्यक्ति का बगीचा था। वे या उनके कोई विशिष्ट व्यक्ति वहाँ नहीं आते थे। अत: माँ जब बेलूड़ मठ आतीं, तो उनसे कहने पर, वे इस बगीचे को माँ के लिए खोलकर दे देते।[१]

महाराज का कोई उत्तर न मिलने पर सेवकगण माँ के पास गये और बोले, ''माँ, तो महाराज क्या आज समाधि में देहत्याग करेंगे?'' माँ बोलीं, ''नहीं, नहीं, लड़के का ध्यान बहुत गहरा हो गया है। यह प्रसाद दे रही हूँ, इसे ले जाकर कान के पास जोर से कहना कि माँ ने प्रसाद भेजा है, उठिए, प्रसाद खाइये।'' सेवकगण जाकर महाराज के कान के पास जोरों से बोले, ''माँ ने आपके लिये प्रसाद भेजा है, उठिए, प्रसाद खाइये।'' लेकिन कोई भी बात उनके कानों तक नहीं पहुँची। वही ध्यान-स्तिमित लोचन! नेत्र नहीं खुले। थोड़ी देर और प्रतीक्षा करने के बाद सेवकगण माँ के पास जाकर रोते हुए बोले, 'माँ, हम लोगों को तो लगता है कि महाराज ने समाधि में देहत्याग कर दिया है।'' माँ हँसते हुए बोलीं, ''नहीं बेटा, कोई भय नहीं। मैं आ रही हूँ।'' पहले जो इतना सब कहा गया था, परन्तु वह सब महाराज के कानों में नहीं गया था, 'माँ ने प्रसाद भेजा है' – यह बात भी कानों में नहीं गयी थी, परन्तु माँ ने आकर ज्योंही उनके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, ''बेटा राखाल, उठो!'' तो वे तत्काल उस गम्भीर समाधि से व्युत्थित हुए और माँ को सामने देखते ही उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। माँ ने उनके सिर पर हाथ रखकर कहा, ''बहुत देर हो गयी है। मैंने तुम्हारे लिये प्रसाद भेजा है। उठो बेटा, प्रसाद खाओ।'' महाराज तुरन्त एक छोटे बच्चे की तरह बोले, ''यह लो माँ, अभी खाता हूँ।''

कोई-कोई महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) से कहते, ''माँ के पास जाने पर, वे दीक्षा दे देती हैं, परन्तु आप बहुत घुमा-फिराकर देते हैं।'' महाराज कहते, ''अरे, माँ की शक्ति और मेरी शक्ति क्या समान है? माँ की शक्ति अनन्त है! वे विष को पचा सकती हैं। परन्तु हम लोग थोड़ा देख-समझकर देते हैं। ठाकुर का आदेश मिलने पर दीक्षा देते हैं। माँ की तो शक्ति अनन्त है, वे सारे विष पचा सकती हैं।''

❖ **(क्रमशः)** ❖

१. परवर्ती काल में स्वामीजी की शिष्या श्रीमती बेटी लेगेट ने वह मकान खरीदने के लिए बेलूड़ मठ को रुपये दिये थे, जिनसे उसे मठ की सम्पत्ति के रूप में खरीद लिया गया था। तब से बेलूड़ मठ का वह मकान 'लेगेट हाउस' के रूप में जाना जाता है। माँ ने कई बार अपनी संगिनियों के साथ इसी भवन में निवास किया था। – सं.

स्वामी सदानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

स्वामीजी (विवेकानन्द) के परिव्राजक जीवन की प्रेरक तथा विस्मयकर घटनाएँ व्यक्ति को साहस तथा शक्ति से अनुप्राणित करती हैं। स्वामी सदानन्द अपने गुरुदेव की स्मृतिकथा बताते समय ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन करते थे, जिनमें स्वामीजी के लोकोत्तर जीवन का बहुत-कुछ आभास प्राप्त होता था। स्वामीजी के साथ यात्रा-काल के इन विचित्र अनुभवों के बारे में बोलते-बोलते वे भावविभोर हो जाते थे – अवरुद्ध कण्ठ से वे कितनी ही बातें बताते थे। सदानन्द-कथित एक स्मृतिचित्र इस प्रकार है –

''पहाड़ों में घूमते समय एक दिन मेरा शरीर अत्यन्त क्लान्त तथा अवश हो गया था। भूख-प्यास से मैं इतना कातर हो गया था कि उस दिन निश्चित रूप से मेरी मृत्यु हो जाती। परन्तु स्वामीजी का कैसा अद्भुत स्नेह था ! वे अपने हाथ से पकड़कर मुझे बहुत दूर तक ले गये और इस प्रकार मेरी प्राणरक्षा की। एक अन्य दिन एक पहाड़ी नदी को पार करके जाना था। एक व्यक्ति से एक घोड़े की व्यवस्था की गयी। नदी में भयंकर प्रवाह था और तल खूब चिकने पत्थरों से भरा था। पग-पग पर पाँव फिसलने की आशंका थी। उस तीव्र धारा में एक पाँव फिसलते ही मृत्यु तक हो सकती थी। मैं तो घोड़े पर सवार होकर मजे में चल रहा था और स्वामीजी अपने जीवन को संकट में डालकर सईस के समान मेरे घोड़े की लगाम पकड़कर मुझे सँभालते हुए ले जा रहे थे। बीच-बीच में कई बार तो ऐसा लगा कि घोड़े को अब नियंत्रण में नहीं रखा जा सकेगा। परन्तु स्वामीजी अद्भुत साहसी थे – उनके हृदय में कितना स्नेह तथा करुणा थी ! अपने जीवन को संकट में डालकर भी उन्होंने घोड़े सहित मुझे पार किया था। उनके स्नेह-प्रेम की बात क्या मुख से कहकर समझायी जा सकती है? वे प्रेम के अवतार थे। उनके साथ रहने पर मन में इतना बल तथा साहस रहता कि मृत्यु भी तुच्छ प्रतीत होती। एक दिन हम दोनों पहाड़ के ऊपर से होकर एक वनमार्ग से जा रहे थे। जाते-जाते एक जगह मनुष्य की कुछ हड्डियाँ पड़ी हुई दीख पड़ीं – उसके आसपास गेरुए वस्त्र के कुछ टुकड़े भी बिखरे हुए थे। स्वामीजी ने उस ओर उंगली से संकेत करते हुए मुझसे कहा, 'देख सदानन्द, एक संन्यासी को बाघ ने खाया है। तुम्हें डर लग रहा है क्या?'' मैंने उत्तर दिया था, 'आपके साथ रहने पर मुझे भला किसका भय हो सकता है?' ''

सदानन्द को साथ लेकर स्वामीजी ऋषीकेश पहुँचे। वहाँ पर वे शिष्य के साथ झाड़ी में रहकर कठोर साधन-भजन में तन्मय हो गये। उस समय स्वामीजी का मन केदार-बदरी के दर्शनार्थ जाने को व्याकुल था, परन्तु सदानन्द के स्वास्थ्य तथा अक्षमता की बात सोचकर वे बारम्बार अपने मन को शान्त कर रहे थे। सर्व-बन्धन-मुक्त परिव्राजक एक दिन सहसा बोल उठे – ''गुप्त, देखता हूँ – तू तो मेरे पाँव की बेड़ी हो गया है। मैं सब कुछ छोड़कर एकाकी भ्रमण कर रहा हूँ, लेकिन तू आकर मेरे लिये एक झंझट बन गया। अब मैं अपने भाव में चलूँगा, यहाँ और नहीं रहूँगा।'' उधर सदानन्द उस समय भूखे स्वामीजी के लिये भिक्षा में प्राप्त चावल-दाल से खिचड़ी पका रहे थे। वह बात कहने के बाद स्वामीजी ने अपना कम्बल उठाकर कन्धे पर रखा और दण्ड-कमण्डलु हाथ में लेकर रास्ते पर निकल पड़े। थोड़ी ही देर में वे लक्ष्मण झूला की ओर चलते हुए अदृश्य हो गये। सदानन्द इस पर किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर चुपचाप चूल्हे के पास ही बैठे रहे। चूल्हे की धीमी आँच में चावल-दाल उबल रहा था – और उसके साथ ही अब उनके सीने में जल रही आग के ताप से उनका हृदय-पिण्ड भी उबलने लगा। तीन-चार घण्टे इसी तरह बीत गये – हताशा, अभिमान एवं वेदना से त्रस्त सदानन्द स्थाणु के समान निष्पन्द वहीं बैठे रह गये। तभी सहसा न जाने कहाँ से आकर स्वामीजी सदानन्द के पीछे खड़े हो गये और बोले, ''क्यों रे, कुछ खिला सकता है? बड़ी भूख लगी है।'' सुनकर सदानन्द को लगा मानो घनघोर काले बादलों के पीछे से सूर्य का उदय हो गया है। उनके मुख पर हँसी फूट पड़ी और वे बोले, ''अभी देता हूँ। खिचड़ी तो चढ़ी ही हुई है।'' स्वामीजी ने प्रसन्न होकर शिष्य को अपने पास खींच लिया और बोले, ''तू बिना खाये बैठा है?'' अभिमानपूर्ण कण्ठ से शिष्य ने उत्तर दिया, ''आप नहीं थे, तो भला कैसे खाता?'' स्वामीजी ने इस पर कहा था, ''देखता हूँ कि तू सचमुच ही मेरे पाँवों की बेड़ी बन गया है। मैं चला तो गया ही था – पहाड़-जंगलों को पार करके काफी दूर निकल जाने पर तेरी बात याद आयी। तुझे

अकेला छोड़ आया हूँ। सोचा – तू जैसा बुद्धू है, न जाने क्या कर बैठे ! इसीलिये देख, मैं तेरे लिये ही फिर लौट आया।'' सदानन्द ने स्वामीजी के भिक्षापात्र में गरम-मरम खिचड़ी परोस दी और उन्हें खाने को बैठाया। स्वामीजी को खूब प्रसन्न देखकर भक्त-शिष्य ने गर्वपूर्वक कहा, ''आप जायेंगे कैसे? मैं ही तो आपको खींच लाया हूँ।''

अस्तु। स्वामीजी की हार्दिक इच्छा होने के बावजूद सदानन्द के कारण ही उनका केदार-बद्री-दर्शन नहीं हो सका था। सदानन्द के बीमार हो जाने के कारण वे उन्हें लेकर हाथरस लौट गये। वहाँ पर स्वामीजी ने पुराने मित्रों की सहायता से सदानन्द की चिकित्सा आदि की व्यवस्था भी कर दी। उस समय १८८८ ई. का अन्तिम काल चल रहा था। स्वामीजी वराहनगर मठ लौट गये और सदानन्द से कहते गये कि थोड़ा स्वस्थ होते ही वे भी मठ में ही चले आयें। तदनुसार कुछ माह बाद सदानन्द भी वहीं आ पहुँचे। मठ में पहुँचकर उन्होंने सुना कि स्वामीजी का पुन: भ्रमण के लिये निकलना निश्चित हो चुका है। परन्तु नवागत शिष्य को पाकर उन्होंने अपना वह संकल्प एक वर्ष के लिये स्थगित रखा। स्वामीजी के इस शिष्य-प्रेम का उल्लेख करते हुए सदानन्द परवर्ती काल में गर्वपूर्वक कहा करते थे, ''स्वामीजी के विश्वहित का कार्य मुझसे ही तो आरम्भ हुआ।''

वराहनगर मठ में आकर सदानन्द को वहाँ के अनभ्यस्त परिवेश में शायद थोड़ी असुविधा का अनुभव हो रहा था। सर्वोपरि बँगला भाषा का अच्छा ज्ञान न होने के कारण वे सबके साथ प्राण खोलकर बातें करने का आनन्द नहीं ले पा रहे थे और दूसरों की बातें भी कभी-कभी ठीक से नहीं समझ पाते थे। उनकी आधा हिन्दी और आधा बँगला की मिश्रित वाक्य-रचना सुनकर सभी लोग विशेष आनन्द का बोध करते। अस्तु। इन दिनों स्वामी सारदानन्द उनके प्रति खूब सहानुभूति दिखाते और सभी प्रकार से उन्हें मठ की भावधारा के साथ अभ्यस्त कराने का प्रयत्न करते। सारदानन्दजी के ममतापूर्ण शिक्षा-पद्धति के फलस्वरूप सदानन्द अल्प अवधि में ही वराहनगर मठ के एक विशिष्ट अंग हो उठे। इसीलिये वे अपने जीवन के अन्तिम काल तक सारदानन्दजी के अतुलनीय स्नेह की बातों का उल्लेख किया करते थे। वराहनगर मठ में आगमन के बाद के इस प्रारम्भिक दिनों का स्मरण करते हुए वे कहते, ''उस समय यदि शरत् महाराज ने आश्रय नहीं दिया होता, तो न जाने मेरा क्या होता !''

मठ के उस प्रारम्भिक दौर में ठाकुर के त्यागी शिष्यों में से कोई-कोई तपस्या, कोई तीर्थ-भ्रमण और कोई अज्ञातवास कर रहे थे। बीच-बीच में उनके वराहनगर मठ में आकर निवास करने के बावजूद सबका एक साथ रहना या मिलना शायद ही कभी हो पाता। इसीलिये तब भी उनका आपस में सम्बोधन आदि की भी कोई सुनिश्चित प्रथा न थी। स्वामी सदानन्द ने उत्तर-भारतीय प्रथा के अनुसार सभी को 'महाराज' के रूप में सम्बोधित करना आरम्भ किया। उसी समय से मठ के साधु-संन्यासियों के बीच सम्बोधन के रूप में 'महाराज' शब्द का प्रचलन हुआ।

बाद के दिनों में वराहनगर मठ की पुरानी स्मृतियों की याद करते हुए सदानन्द बहुत-सी बातें सुनाते थे। इन चर्चाओं के माध्यम से स्वामीजी के तत्कालीन मठ-जीवन का एक अति सुन्दर विवरण प्राप्त होता है। वे कहते –

''उन दिनों सारे समय व्यस्त रहना पड़ता था, क्षण भर के लिये भी विश्राम न था। बहुत-से लोग आना-जाना करते, अनेक विद्वान् आकर तर्क-विचार आदि करते। स्वामीजी एक क्षण भी बिना काम के नहीं रहते। कभी-कभी वे थोड़ी देर के लिये एकाकी रहने का समय पाते, उस समय वे 'हरिबोल, हरिबोल' या 'माँ, माँ!' बोलते हुए टहलते रहते। मैं दूर से ही उन्हें देखता और जरा-सा मौका मिलते ही पूछता, 'आप खायेंगे नहीं?' इस पर वे हँसकर कुछ उत्तर देते।...

''वे चौबीसों घण्टे कार्य में व्यस्त रहते। वे मानो उन्मत्त के समान हो गये थे। फिर बड़े भोर में, अन्धकार रहते ही वे उठकर 'जागो भाई, जागो सभी, अमृत के अधिकारी' – यह भजन गाते हुए सबको जगा डालते। इसके बाद सभी ध्यान करते। उसके बाद भजन, पाठ, चर्चा आदि का ऐसा दौर चलता कि सभी लोग आत्म-विस्मृत होकर उसी में डूब जाते। अपराह्न में एक-दो बजे तक स्वामी रामकृष्णानन्द सबको मानो बलपूर्वक स्नान-आहार आदि करने भेजते। उन दिनों वे ही मठ के व्यवस्थापक, ठाकुर के पुजारी और रसोइया भी थे। फिर इसके बाद भी शाम तक भजन, सत्संग आदि जारी रहता। संध्या को मन्दिर में आरती और उसके बाद थोड़ी देर श्रीरामकृष्ण के विषय में चर्चा होती। इसके बाद सभी फिर से ध्यान करते और ध्यान में पूर्णत: तन्मय हो जाते। कभी-कभी सभी लोग छत पर बैठकर आधी रात के भी बहुत बाद तक 'जय सीताराम' का गान करते।''

वराहनगर मठ के बारे में बोलते हुए वे भावविभोर हो उठते। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के भगवद्-विरह तथा वैराग्य की बातें स्मरण करते हुए वे कहते, ''वहाँ इतनी जोर की तपस्या चलती कि कोई उनके पास जाने का साहस तक नहीं जुटा पाता था।'' फिर उत्तेजित भाव से सदानन्दजी बोल उठते, "We are not ordinary monks. We belong to the line of prophets." – ''हम लोग साधारण संन्यासी नहीं हैं। हम ऋषियों की परम्परा में आते हैं।''

मठ में रहने का सुअवसर पाकर सदानन्द ने स्वयं को जी-जान से जप-ध्यान तथा विविध प्रकार के सेवा-कार्यों में लगा दिया। इन्हीं दिनों श्रीरामकृष्ण के महान् गृही भक्त

बलराम बोस की गम्भीर बीमारी के समय, स्वामी शिवानन्द तथा निरंजनानन्द के साथ मिलकर सदानन्द द्वारा की गयी अक्लान्त सेवा तथा परिचर्या इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी सेवा-निष्ठा का और भी अद्‌भुत इतिहास आगे यथास्थान वर्णित होगा। स्वामीजी ने स्वयं ही सदानन्द के हृदय में सेवा का बीज वपन किया था। गाजीपुर से १४ फरवरी, १८९० ई. के एक पत्र में अपने शिष्य सदानन्द को उत्साह तथा प्रेरणा देते हुए उन्होंने जो लिखा था, उसका कुछ अंश यहाँ स्मरणीय है। स्वामीजी ने लिखा था, "अपना जप-तप साधन-भजन करना और स्वयं को दासानुदास जानकर सबकी सेवा करना। तुम जिन लोगों के पास हो, मैं भी उन लोगों का दासानुदास तथा चरणधूलि होने के योग्य नहीं हूँ – यह जानकर उन लोगों की सेवा तथा भक्ति करना।... जो कोई रामकृष्ण की दुहाई देता हो, उसी को अपना गुरु समझना। प्रभु सभी हो सकते हैं, सेवक होना बड़ा कठिन है। शशी की बातों को तुम विशेष रूप से मानना। गुरुनिष्ठा, अटल धैर्य तथा अध्यवसाय के बिना कुछ भी न होगा – यह निश्चित रूप से जान लेना।"

१८९० ई. के अप्रैल में गाजीपुर में पवहारी बाबा का संग करने के बाद स्वामीजी वाराणसी जाकर पुन: तपस्या करने लगे। वहाँ प्रमदादास मित्र के उद्यान में रहकर उन्होंने कठोर साधन-भजन में मनोनियोग किया। सम्भवत: इन्हीं दिनों या किसी अन्य समय सदानन्द को भी स्वामीजी के साथ वाराणसी-निवास का सुयोग मिला था। उन दिनों श्रीगुरु के सान्निध्य में रहकर तपस्या करने की स्मृति सदानन्द को जीवन भर उद्दीप्त किये रहती। इन दिनों स्वामीजी का मन जिस उच्च भूमि पर विचरण करता था, सदानन्द ने बाद के दिनों में उसका स्मरण करते हुए अनेक लोगों से कहा था, "स्वामीजी और मैं एक बार काशी में निवास कर रहे थे। एक नीबू के उद्यान में पड़े रहते और माधुकरी करके खाते। स्वामीजी कितना कठोर जप-ध्यान किया करते ! इन दिनों वे जिस भाव में रहते, उसे कहकर नहीं बताया जा सकता। सर्वदा भाव में विभोर रहते, मानो मन शरीर से उड़कर कहीं अन्यत्र चला गया हो ! मुखमण्डल इतना गम्भीर और नेत्र इतने ज्योतिपूर्ण हो जाते कि उनके मुख की ओर देखना मुश्किल हो जाता था – पास जाने में संकोच होता था।"

उधर १८९० ई. के मार्च में स्वामी अभेदानन्दजी ऋषीकेश जाकर बीमार हो गये थे और स्वामीजी के निर्देशानुसार चिकित्सा हेतु वाराणसी आये हुए थे। स्वामीजी ने स्वयं ही उनकी चिकित्सा का सारा प्रबन्ध कर दिया था। परन्तु सहसा बलराम बाबू के देहान्त का समाचार पाकर स्वामीजी कलकत्ते लौट गये। उस समय उन्होंने अभेदानन्द जी की चिकित्सा, सेवा तथा देखभाल का भार श्रीयुत प्रमदादास मित्र पर छोड़ दिया था। अभेदानन्दजी का शरीर उस समय खूब दुबला-पतला तथा कमजोर हो गया था। अस्तु। इसके बाद कलकत्ते से स्वामी सारदानन्द के साथ सदानन्द भी पुन: काशी आ पहुँचे – स्वामीजी के आदेश पर अभेदानन्दजी का सारा भार इन्हीं लोगों ने ग्रहण किया। इस समय ये सभी लोग वंशी दत्त के भवन में निवास किया करते थे। बाद में अभेदानन्दजी ने इस काल की स्मृतियों के विषय में लिखा है –

"शरत् तथा गुप्त को देखकर मेरी आँखों में आँसू आ गये और मुझे बारम्बार स्वामीजी के प्रगाढ़ प्रेम की याद आने लगी। शरत् तथा गुप्त महाराज के यत्न तथा सेवा-शुश्रूषा से मैं धीरे-धीरे रोगमुक्त हो गया। वैसे पूरी तौर से आरोग्य प्राप्त करने में लगभग चार महीने लग गये थे।"[१]

थोड़ा स्वस्थ होने के बाद अभेदानन्दजी इलाहाबाद के पास यमुना के उस पार स्थित झूसी में जाकर वहाँ तपस्या करने लगे। परन्तु सारदानन्दजी तथा सदानन्द कुछ दिन और काशी में ही रह गये और अपना समय तपस्या आदि में बिताने लगे। वैसे थोड़े दिनों बाद ही सदानन्द भी झूसी जाकर अभेदानन्दजी के साथ जा मिले। उस समय वे दोनों यमुना के किनारे एक झोपड़ी में निवास करने लगे। झूसी में तपस्या के दौरान दोनों ही सर्वदा ध्यान-धारणा, शास्त्र-चर्चा तथा भजन आदि में उन्मत्त रहते थे। अभेदानन्द उन दिनों सदानन्द को नियमित रूप से वेदान्त पढ़ाया करते थे। इन दिनों वे लोग साधन-भजन में इतने तन्मय हो जाते थे कि किसी-किसी दिन यह सोचकर कि भिक्षा के लिये बाहर जाने से व्यर्थ ही समय की बरबादी होगी, वे लोग छत्र में भी नहीं जाते – भोजन का समय हो जाने पर भी कुटिया में ही बैठकर वेदान्त-चर्चा करते हुए या भजन गाते हुए अपना समय बिताते। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसे दिनों में, किसी-न-किसी अप्रत्याशित उपाय से उनकी कुटिया में ही भोजन पहुँच जाता – कोई-न-कोई स्वयं आकर भिक्षा दे जाता। बाद में सदानन्द के मुख से ऐसी कई घटनाएँ सुनने को मिला करती थीं। अभेदानन्दजी ने भी इन दिनों की स्मृतियाँ लिपिबद्ध करते हुए लिखा है –

"दोपहर के समय हम दोनों माधुकरी भिक्षा के लिये जाते थे। वैसे किसी-किसी दिन मैं माधुकरी के लिये नहीं जाता था, गुप्त महाराज अकेले जाते और उन्हें जो कुछ मिलता, उसी को हम दोनों बाँटकर खा लेते। गुप्त प्रतिदिन शाम को मुझसे 'विचार-सागर' तथा संस्कृत व्याकरण पढ़ा करते थे। बीच-बीच में हम दोनों प्रश्न तथा उत्तर के माध्यम से वेदान्त पर चर्चा किया करते थे। झूसी में साधन-भजन तथा शास्त्रपाठ में हमारे दिन बड़े आनन्द में बीतने लगे।

१. द्र. स्वामी अभेदानन्द द्वारा बँगला में लिखित 'आमार जीवनकथा'।

''झूसी में निवास के समय एक दिन की घटना यहाँ बताता हूँ। वर्षा के दिन थे। उन दिनों प्राय: प्रतिदिन ही आँधी-पानी हुआ करती थी। एक दिन सुबह से ही लगातार वर्षा हो रही थी। मेरी गुफा के पास ही एक उत्तर भारतीय नानकपन्थी साधु रहते थे। मैं तथा गुप्त महाराज जब माधुकरी भिक्षा के लिये जाते, तो कभी-कभी वे भी हमारे साथ हो लेते। उस दिन सुबह से ही वर्षा आरम्भ हुई देख नानकपन्थी साधु ने हमें जल्दी भिक्षा के लिये निकल जाने की सलाह दी और बोले – यदि ऐसा नहीं किया, तो उपवास करना होगा। उनकी बात सुनकर मैं थोड़ा हँसते हुए बोला, 'आज तो मैं भिक्षा के लिये नहीं जाऊँगा, अजगरी वृत्ति[२] का अवलम्बन करूँगा। भगवान की इच्छा और कृपा होने पर मेरी भिक्षा यहीं आकर पहुँच जायेगी।'

''उस दिन मैं सचमुच ही माधुकरी के लिये बाहर नहीं गया। गुप्त महाराज भी मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा देखकर भिक्षा के लिये नहीं निकले। हम दोनों गंगातट पर जाकर शास्त्र-चर्चा तथा ध्यान-जप में डूब गये। इधर एक अद्‌भुत घटना हुई! भोजन का समय लगभग बीत चुका था। मैं उस समय 'विचार-सागर' की व्याख्या करके सदानन्द को समझा रहा था। तभी मैंने देखा कि एक सज्जन एक टोकरी में बहुत-सी खाद्य-सामग्री लेकर हमारी ओर अग्रसर हो रहे हैं। निकट आने पर मैंने देखा कि वे तो हमारे चिर-परिचित वराहनगर-निवासी मैत्र महाशय थे। हम लोग उन्हें देखकर आनन्द से अधीर हो उठे और पूछने लगे कि उन्हें हमारी खोज कैसे मिली। मैत्र महाशय बोले, 'मैंने इलाहाबाद में आकर सुना कि यहाँ काली तपस्वी नाम के एक तितिक्षावान साधु झूसी में गंगातट पर रहकर तपस्या कर रहे हैं। काली तपस्वी नाम सुनकर मन में विशेष भाव उत्पन्न हुआ और मुझे मन-ही-मन विश्वास हुआ कि हो-न-हो काली तपस्वी आप ही होंगे। गुप्त महाराज भी यहीं हैं, यह मैं नहीं जानता था। अस्तु। आपको देखने के लिये मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा और खाली-हाथ साधु-दर्शन को नहीं जाना चाहिये, इसीलिये मैं थोड़ी-सी मिठाई आदि साथ लेता आया हूँ। इस समय सहसा आप लोगों को यहाँ पाकर मुझे अत्यन्त आनन्द हो रहा है।' ...

''हम लोगों ने उन नानकपन्थी साधु को बुलाकर मिठाई आदि का कुछ अंश उनके हाथ में दिया और कहा, 'महात्माजी, गीता की – **योगक्षेमं वहाम्यहम्** – वाणी आज सार्थक हो गयी।' नानकपन्थी साधु ने अत्यन्त विस्मय तथा आनन्द के साथ उसे ग्रहण किया और अपनी गुफा की ओर चले गये। मैत्र महाशय भी हम लोगों को प्रणाम करके नगर की ओर लौट गये। मैं तथा गुप्त महाराज बाकी मिठाइयों तथा खाद्य-सामग्री को आनन्दपूर्वक ग्रहण करते हुए ठाकुर की अपार करुणा के बारे में सोचने लगे। मैंने गुप्त महाराज से कहा, 'देखा न, करुणामय ठाकुर सदा-सर्वदा ही अपना कल्याण-हस्त फैलाये हुए हमारे पीछे विराजमान हैं और हमारी देखरेख तथा रक्षा कर रहे हैं।' गुप्त महाराज ने परम श्रद्धा के साथ अपने दोनों हाथ सिर से लगाकर ठाकुर के निमित्त प्रणाम निवेदित किया।''[३]

जून के महीने में दोनों संन्यासी वराहनगर मठ लौट आये। १८९१ ई. के नवम्बर में जब मठ आलमबाजार में स्थानान्तरित हुआ, तब रामकृष्णानन्दजी, प्रेमानन्दजी आदि श्रीरामकृष्ण-शिष्यों के साथ सदानन्द ने इस नये मठ के कार्य में काफी परिश्रम किया था। मठ में उन दिनों केवल कुछ ही संन्यासियों का निवास था, अत: सबको अपनी व्यक्तिगत तपस्या-साधना के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते थे। अत: सदानन्द भी इन दिनों ध्यान-भजन से बचे हुए समय में पानी लाना, बरतन माँजना, कमरे झाड़ना और ठाकुरघर के विविध कार्यों में सर्वदा लगे रहते। सदा व्यस्त, स्वयं में डूबे तथा आनन्दप्रिय सदानन्द मठ में सभी को प्रिय थे। उनके विषय में उनके एक विशिष्ट गुरुभाई स्वामी विरजानन्द ने अपनी स्मृतिकथा में लिखा है – ''गुप्त महाराज को उन दिनों मठ में सभी लोग 'पिरीत-पागला' कहा करते थे। थोड़ा-सा भी प्रेम दिखाने पर वे आनन्द से उछल पड़ते, गुलाम हो जाते, हाथ-पाँव-शरीर दबा देते, बड़ा परिश्रम करते।'' इसी बीच सारदानन्दजी ने उन्हें बँगला भाषा का भी अच्छा ज्ञान करा दिया था। बँगला भाषा की कोई नई बात सुनते ही अति सरल सदानन्द को बड़ा ही आनन्द होता। जब तक वे उस नये वाक्य का अर्थ सीख या समझ नहीं लेते, तब तक वे एक बालक के समान अधीर बने रहते।

❖ **(क्रमश:)** ❖

२. अधिक वर्षा होने पर सर्प अपने बिल से भोजन की खोज में बाहर नहीं निकलता। इसी वृत्ति को अजगरी वृत्ति कहते हैं।

३. पूर्वोक्त 'आमार जीवनकथा' ग्रन्थ से उद्‌धृत।
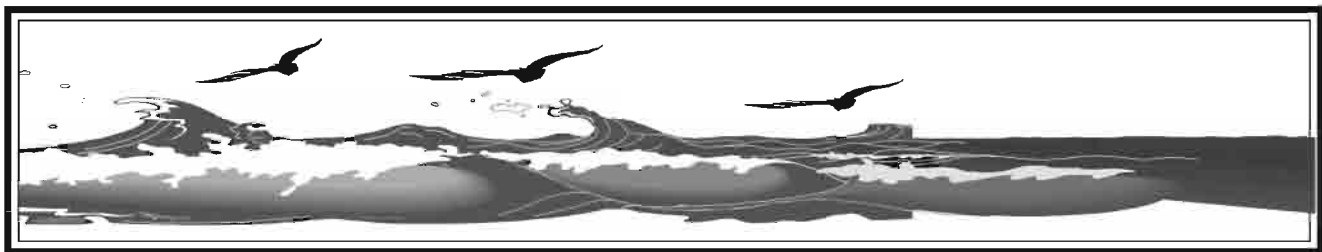
न मे भक्तः प्रणश्यति (९)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आवासीय सभागृह में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

भक्ति क्या है? जीवन में भक्ति कैसे आती है? वैसे तो भक्ति के बड़े-बड़े शास्त्र हैं। जैसे वेदान्त में प्रस्थानत्रय है, ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् और ये ग्रन्थ बहुत कठिन हैं। वैसे ही भक्ति के प्रस्थानत्रय हैं – महाग्रन्थ भागवत, भगवद्गीता और तीसरी एक छोटी-सी पुस्तिका है नारद-भक्तिसूत्र। ये भक्ति साधना के प्रस्थानत्रय हैं। यदि हमें भक्त बनना है, तो हम इन ग्रन्थों से मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि यदि हम एकबार भक्त हो गये, तो भगवान हमारे इहलोक और परलोक दोनों की सर्वदा सब प्रकार से रक्षा करेंगे। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष, चारों पुरुषार्थ केवल भक्ति से उपलब्ध होते हैं, भक्तों को हुए हैं और हमें भी हो सकते हैं। यद्यपि भक्त भगवान से कुछ चाहता नहीं है, वह तो केवल भगवान और उनकी भक्ति की कामना ही रखता है, तथापि भगवान स्वयं उसे सब कुछ देने के लिए आतुर रहते हैं।

'नारद-भक्ति-सूत्र' में देवर्षि नारद ने जो प्रथम सूत्र लिखा है, वह प्रतिज्ञा सूत्र है और दूसरे दो सूत्रों में भक्ति और प्रेम की परिभाषा है। नारद जी कहते हैं – **अथ अतः भक्तिम् व्याख्यास्यामः** – अब मैं भक्ति की व्याख्या करूँगा। यह बहुवचन में है। प्राय: बड़ों से जब हम बात करते हैं, तो उनके सम्मान के लिये बहुवचन में बात करते हैं। यदि हम इसे उत्तम पुरुष में कर लें, तो वाक्य बनेगा – **अथ अतः भक्तिं व्याख्यास्यामि**। अब यदि भक्ति की व्याख्या के बदले हम ऐसा करें – **अथ अतः साधयामि** – अब मैं साधना करूँगा। यदि हम ऐसा दृढ़ निश्चय कर लें, हाँ, अब मैं भगवान की भक्ति करूँगा, तो निश्चय ही हमारे जीवन में भक्ति का वर्धन होगा। तो जब हमारे जीवन में अथ अत: आयेगा, तब भक्ति आयेगी। यह अथ अत: क्या है? मैं आप लोगों की सेवा में यह शब्दांजलि अर्पित कर रहा हूँ। बहुत से आप लोगों के मन में हो रहा होगा कि जल्दी शेष हो। कितने लोगों को लगता होगा कि अच्छा स्वामीजी, अब हम यहाँ से चलें, आप अपनी व्याख्यान चालू रखें। क्यों भाई? क्या हो गया? क्यों अब आप जाने को व्यग्र हैं? अथ अत:, इसलिए कि अब घर जाना है, भोजन करना है। आपने तो बहुत भोजन करा दिया, लेकिन अब पेट के भोजन का क्या होगा? इसलिए हम चलें। इसी प्रकार जब हमारे मन में यह दृढ़ धारणा होगी कि हमने संसार के बहुत से सुख-भोग लिये, बहुत से सुख-दुख के अनुभव ले लिये, लेकिन किसी से भी हमारे हृदय में शान्ति नहीं मिली। इसलिये अब मैं सब कुछ छोड़कर भगवान की भक्ति करूँगा, उनका भजन करूँगा, क्योंकि एकमात्र वे ही शान्ति और आनन्द के निधान हैं। उनके भजन से भक्त शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है – **शाश्वत् शान्तिम् निगच्छति'**।

क्या हमारे जीवन में यह प्रसंग आया है कि अब मैं भगवान की भक्ति करूँगा? इसका उत्तर हमें स्वयं ही देना होगा। क्योंकि संसार में दूसरा कोई भी मेरे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। प्रत्येक व्यक्ति को उत्तम पुरुष में, अपने आप से पूछना पड़ेगा कि जितने वर्ष मैंने जीवन में व्यतीत किए, जो कुछ मैं पाना चाहता था, वह सब कुछ पाया, किन्तु क्या मैं धर्मात्मा हुआ? क्या मेरे मन में शाश्वत शान्ति आई है? – **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वत् शान्तिम् निगच्छति'**। इसको मेरे सिवाय दूसरा कौन बतायेगा? इसे हमें ही अन्त:करण में निष्कपट भाव से खोजना होगा। क्योंकि यदि हम धर्मात्मा नहीं होंगे, भक्त नहीं होंगे, तो हमें बारम्बार इस संसार में आकर दुख भोगना होगा। शंकराचार्य जी कहते हैं – **पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् पुनरपि जननी जठरेशयनम्**। यदि हम भक्त होंगे, तो भगवान ने यह शर्त लगाई है कि न मे भक्त: प्रणश्यति – मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होगा, बाकी सब कुछ नष्ट हो जायेंगे। जो भक्त नहीं होंगे, उनका नाश होगा ही।

हमारे जीवन में यह प्रसंग आना चाहिये कि मैंने अपने जीवन से दुख और अशान्ति को दूर करने के सब प्रयत्न कर लिये, अपने जीवन में उपलब्ध सब प्रकार के भोगों को भोग लिया, किन्तु मेरे मन में वांछित तृप्ति नहीं हुई, जब यह निश्चय होगा, तब हम भक्ति की साधना की शुरुआत कर सकेंगे। यह हुआ अथ का तात्पर्य। अब अत: को देखें। हिन्दी में अत: माने इसलिये। किसलिए भक्ति करेंगे? इसलिये कि किसी भी सांसारिक उपाय से वह वस्तु हमें नहीं मिल पायी, जो मैं पाना चाहता था, जीवन में शाश्वत शान्ति मुझे नहीं मिल पाई, इसलिए अब मैं भक्ति की साधना करूँगा। भक्ति क्या है? देवर्षि नारद कहते हैं – **सा तु अस्मिन् परम प्रेमरूपा** – वह भक्ति परम प्रेमरूपा है।

हिन्दू धर्म की या सनातन धर्म की अति विशाल विशिष्टता एक शब्द में निहित है। जो हम सनातन धर्मियों को, हिन्दू धर्म को माननेवालों को साम्प्रदायिक कहते हैं, वे उस

जन्मान्ध व्यक्ति के समान हैं, जो कहता है कि सूर्य है ही नहीं, सदा अंधेरा रहता है। हिन्दू परिवार, हिन्दू के घर में जन्म लेकर भी हमने अपने धर्म को थोड़ा भी नहीं समझा। मैं कोई वेदान्त की बात नहीं कह रहा हूँ, मैं स्वयं भी अल्पज्ञ हूँ। यदि हिन्दू धर्म साम्प्रदायिक है, तो विश्वब्रह्माण्ड में कोई ऐसा धर्म नहीं है, जो असाम्प्रदायिक हो। सबसे बड़े असाम्प्रदायिक हम हिन्दू ही हैं। इस सूत्र के एक शब्द में, नारद कहते हैं – **सा** – वह भक्ति, **अस्मिन्** – इसमें, **परम प्रेमरूपा** – परम प्रेमरूपा है। यहाँ सूत्रकार ऐसा भी कह सकते थे कि सा तु एक ईश्वर परम प्रेमरूपा। लेकिन यदि वे ईश्वर कह देते तो, कोई कहता, मैं अल्लाह को मानने वाला हूँ, हम तुम्हारे ईश्वर को नहीं मानेंगे, हम तो अल्लाह को मानते हैं। कोई दूसरा कहता, हम तो ईसाई हैं, तुम्हारी बात नहीं सुनेंगे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के मतभेद उपस्थित हो जाते। लेकिन देवर्षि नारद ने किसी भी संज्ञा का – ईश्वर, अल्लाह, खुदा, गॉड का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने कहा कि जो भी आपके इष्ट हों, उनमें परम प्रेम होना चाहिये। अपने इष्ट के प्रति परम प्रेम का नाम भक्ति है और उसका स्वरूप है – **अमृतस्वरूपा च**। यह परम प्रेम प्राप्त होते ही व्यक्ति अमर हो जाता है। इसी देह में अमर हो जाता है। जब हमारे जीवन में ऐसी भक्ति आयेगी, तब हम शाश्वत शान्ति को प्राप्त करेंगे।

मैं प्रभु के चरणों में प्रार्थना करता हूँ, वे ऐसी कृपा करें कि हम इसी जीवन में अपने इष्ट के चरणों में परम प्रेम कर सकें और उस अमरत्व का, उनके परम आश्रय का, अनन्य आश्रय का बोध कर सकें।

इस प्रकार संक्षेप में आपने देखा कि भक्ति क्या है, भक्ति का स्वरूप क्या है और भक्ति की प्राप्ति कैसे करें। भक्ति की प्राप्ति से हम शाश्वत शान्ति और अमरत्व के अधिकारी बनेंगे। जब हम भगवान की निष्ठा से भक्ति करेंगे, तब भगवान द्रौपदी की तरह हमारी रक्षा के लिये स्वयं दौड़कर हमारी आन-मान की रक्षा करेंगे और अर्जुन की तरह सदा हमारी रक्षा में तत्पर रहेंगे, क्योंकि उन्होंने यह प्रतिज्ञा ही है – **न मे भक्त: प्रणश्यति**। ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: हरि: ॐ !!!

❖ (समाप्त) ❖
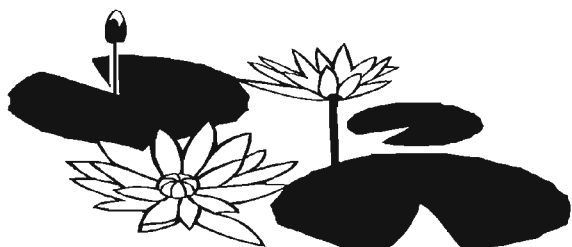
उड़ जायेगा हंस अकेला

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

तन-पिंजर से कभी अचानक
उड़ जायेगा हंस अकेला।
सावधान ! गतमान न रहना,
जीवन कुछ श्वासों का मेला।।

चाहे बुनते रहें रात-दिन
राजपाट का ताना-बना,
चाहे जितना द्रव्य बटोरें
हीरा-मोती माल-खजाना,
धरा रहेगा यहीं सभी कुछ,
साथ नहीं जायेगा धेला।
तन-पिंजर से कभी अचानक
उड़ जायेगा हंस अकेला।।

नहीं समय पर जाग सके,
तो पछतायेंगे सोने वाले,
पायेंगे क्या सुमन सुगन्धित,
बीज शूल के बोने वाले,
कोई नहीं कभी कर पाया
कर्मों के फल की अवहेला।
तन-पिंजर से कभी अचानक
उड़ जायेगा हंस अकेला।।

अभिमानी अज्ञानी जन ही
जन-के-मन को हैं भरमाते
पुण्य प्रेम की बात दूर हैं,
वे तो केवल पाप कमाते,
उनको होता भान तभी,
जब आती है मरने की बेला।
तन-पिंजर से कभी अचानक
उड़ जायेगा हंस अकेला।।

जिसने जन-धन-बल के मद में
नहीं सुमति का सुमन खिलाया,
स्वाद न पाया सच्चे सुख का,
उसने जीवन व्यर्थ गवाँया,
काल परम बलवान, वही गुरु
सारा जग है उसका चेला।
तन-पिंजर से कभी अचानक
उड़ जायेगा हंस अकेला।।

कठोपनिषद्-भाष्य (२)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

त ँ ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ।।२।।

अन्वयार्थ – दक्षिणासु – (यज्ञ के पुरोहितों को) दक्षिणा के रूप में प्रदान करने हेतु **नीयमानासु** ले जायी जा रही गायों आदि को देखकर **कुमारम् सन्तम्** – तरुण आयु वाले **तम् ह** उस नचिकेता के मन में **श्रद्धा** श्रद्धा का **आविवेश** प्रवेश हुआ। **सः** उसने **अमन्यत** सोचा।

भावार्थ – यज्ञ के पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में देने हेतु ले जायी जा रही गायों को देखकर, उस तरुण आयुवाले नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का संचार हुआ; उसने सोचा।

भाष्य – तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथम-वयसं सन्तम् अप्राप्त-जनन-शक्तिं बालम् एव, श्रद्धा आस्तिक्य-बुद्धिः पितुः हितकाम-प्रयुक्त-आविवेश प्रविष्टवती ।

भाष्यानुवाद – नचिकेता, जो कुमार अर्थात् प्रथम आयु का अर्थात् प्रजनन-शक्ति से रहित बालक ही था, (तो भी) उसके अन्तर में पिता के हित की कामना से श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य-बुद्धि का आविर्भाव हुआ।

कस्मिन् काले इति आह – ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यः च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेन उपनीयमानासु दक्षिणा-अर्थासु गोषु, सः आविष्ट-श्रद्धः नचिकेता अमन्यत ।

कब हुआ – यह बताते हैं – जब ऋत्विकों (पुरोहितों) तथा (उनकी मण्डली के अन्य) सदस्यों को दक्षिणा में देने हेतु गायों का विभाजन करके, उन्हें ले जाया जा रहा था, तभी उस श्रद्धा से आविष्ट नचिकेता ने सोचा।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३

अन्वयार्थ – पीत-उदकाः जो (अपने सारे जीवन का) जल पी चुकी हैं (और) **जग्धतृणाः** जो चारा खा चुकी हैं, **दुग्धदोहाः** जो (अन्तिम बार) दूध दे चुकी हैं, **निरिन्द्रियाः** जिनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी हैं (अर्थात् जो बच्चे पैदा करने में असमर्थ हैं), **ताः** ऐसी गायों का **ददत्** जो यजमान दान करता है, **सः** वह **अनन्दाः** असुखमय **नाम** नामक **ते** जो प्रसिद्ध **लोकाः** लोक हैं, **तान्** उन्हीं में **गच्छति** जाता है।

भाष्य – कथम् ? इति उच्यते – पीतोदका इत्यादिना दक्षिणार्था गावः विशेष्यन्ते । पीतम् उदकं याभिः ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिः ता जग्धतृणाः । दुग्धः दोहः क्षीर-आख्यः यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रियाः प्रजनन-असमर्थाः जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः ।

भाष्यानुवाद – (नचिकेता ने) क्या सोचा, यह बताते हैं – पीतोदका आदि के द्वारा दक्षिणा के निमित्त गायों की विशेषता बतायी जा रही है। जिनके द्वारा पानी पीया जा चुका है, वे हैं पीतोदकाः। जिनके द्वारा घास खाया जा चुका है, वे हैं जग्धतृणाः। जिनके द्वारा दूध दिया जा चुका है, वे हैं दुग्धदोहाः। निरिन्द्रियाः का अर्थ है – जो बच्चे पैदा करने में असमर्थ वृद्ध तथा निष्फल गाये हैं।

याः ताः एवम्भूताः गाः ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा-बुद्ध्या ददत् प्रयच्छन्, अनन्दा अनानन्दाः असुखा नाम-इति-एतत्-ये ते लोकाः तान् स यजमानो गच्छति ।।३।।

भाष्यानुवाद – जो ऐसी गाये हैं, उन्हें जो यजमान ऋत्विकों (पुरोहितों) को दक्षिणा की बुद्धि से देता है, वह अनन्दा नाम के सुखरहित लोकों में जाता है।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं त ँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामिति ।।४

अन्वयार्थ – स ह उस (श्रद्धायुक्त नचिकेता) ने **पितरम्** पिता से **उवाच** कहा – **तत** हे पिता, **माम्** मुझे **कस्मै** किसको **दास्यसि** (दक्षिणा के रूप में) प्रदान करेंगे **इति**? (उत्तर न मिलने पर उसने) **द्वितीयम्** दुबारा **तृतीयम्** तिबारा (पिता से यही प्रश्न किया)। (इस पर पिता ने चिढ़कर) **तम् ह** उस पुत्र से **उवाच** कहा – **त्वा (त्वाम्)** तुम्हें **मृत्यवे** यम को **ददामि** प्रदान करता हूँ, **इति**।

भाष्य – तत्-एवं क्रतु-असम्पत्ति-निमित्तं पितुः अनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयम् आत्म-प्रदानेन अपि क्रतु-सम्पत्तिं कृत्वा इति एवं मत्वा पितरम् उपगम्य स ह उवाच पितरम् –

भाष्यानुवाद – इस प्रकार पिता के अपूर्ण यज्ञ के कारण उन्हें प्राप्त होनेवाले अनिष्ट फल का निवारण करने हेतु मुझ पुत्र द्वारा स्वयं को दान की वस्तु बनाकर भी यज्ञ को पूर्ण करना उचित है – ऐसा सोचकर वह पिता के पास जाकर उनसे बोला –

हे तत तात कस्मै ऋत्विक्-विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसि इति एतत्। एवम् उक्तेन पित्रा उपेक्ष्यमाणः अपि द्वितीयं तृतीयम् अपि उवाच - कस्मै मां दास्यसि, कस्मै मां दास्यसि इति ।

भाष्यानुवाद – हे पिता, आप किस विशिष्ट ऋत्विक पुरोहित को मुझे दक्षिणा के रूप में प्रदान कर रहे हैं। ऐसा कहने के बाद पिता द्वारा उपेक्षा किये जाने पर भी उसने दुबारा और तिबारा भी यही वाक्य कहा – आप मुझे किसे दे रहे हैं, आप मुझे किसे दे रहे हैं?

न अयं कुमार-स्वभावः - इति क्रुद्ध सन् पिता तं ह पुत्रं किल उवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वाम् ददामि इति ।।

भाष्यानुवाद – इसका बालक के जैसा स्वभाव नहीं है – ऐसा सोचकर नाराज हुए पिता ने उस पुत्र से कहा – "मैं तुम्हें सूर्यपुत्र यम को दान करता हूँ।"

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किँ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ।।५।।

अन्वयार्थ – (पिता का उत्तर सुनकर नचिकेता एकान्त में बैठकर सोचने लगा – (मैं) **बहूनाम्** अनेक पुत्रों या शिष्यों में (सदाचार आदि की दृष्टि से) **प्रथमः** सर्वश्रेष्ठ स्थान **एमि** प्राप्त हूँ, **बहूनाम्** अन्य अनेकों में (मैं) **मध्यमः** मध्य स्थान **एमि** प्राप्त हूँ, (परन्तु अधम स्थानीय कहीं भी नहीं हूँ, अत: ऐसे सुयोग्य पुत्र को कोई भी पिता अकारण ही यम के घर नहीं भेजेगा); **यमस्य** यमराज का **किम् स्वित्** ऐसा क्या **कर्तव्यम्** उद्देश्य हो सकता है, **यत्** जो पिता **अद्य** आज **मया** मेरे द्वारा **करिष्यति** सम्पन्न करेंगे? (कोई उद्देश्य न हो, तो भी मुझे पिता के आदेश का पालन करना चाहिये।)

भाष्य – सः एवम्-उक्तः पुत्रः एकान्ते परिदेवयाञ्चकार । कथम्? इति उच्यते – बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वा एमि गच्छामि प्रथमः सन्-मुख्यया शिष्य-आदि-वृत्त्या इति अर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमः मध्यमया एव वृत्त्या एमि । न अधमया कदाचित् अपि ।

भाष्य-अनुवाद – जिस पुत्र को ऐसा कहा गया था, वह एकान्त में (बैठकर) शोक करने लगा। कैसे करने लगा? यह बताते हैं – अनेक शिष्यों या पुत्रों में, शिष्य के आचरण आदि की वृत्ति (दृष्टि) से मैं प्रथम माना जाता हूँ। और मध्यमा वृत्ति के कारण मैं अनेकों में मध्यम भी गिना जाता हूँ, परन्तु मैं कभी भी अधम नहीं माना जाता।

तम् एवं विशिष्ट-गुणम् अपि पुत्रं माम् 'मृत्यवे त्वा ददामि' इति उक्तवान् पिता । स किं स्विद् यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रदत्तेन करिष्यति यत्-कर्तव्यम् अद्य ?

ऐसे विशिष्ट गुणोंवाला होने पर भी मुझ पुत्र को पिता ने कहा – "मैं तुम्हें यम को दान करता हूँ।" यम का ऐसा कौन-सा कार्य होगा, जो आज वे मुझे देकर सम्पन्न करेंगे?

नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्य एव क्रोधवशात् उक्तवान् पिता । तथापि तत्-पितुः वचः मृषा मा भूत् इति ।

(नहीं,) अवश्य ही पिता ने उद्देश्य के विषय में न सोचकर केवल क्रोधवश ही ऐसा कहा होगा। तथापि पिताजी की वाणी असत्य भी नहीं होनी चाहिये।

एवं मत्वा परिदेवना-पूर्वकम् आह – पितरं शोक-आविष्टं किं मया उक्तम् इति –

ऐसा सोचकर वह दु:खपूर्वक उन पिता से बोला, जो तब इस शोक में डूबे हुए थे कि यह मैंने क्या कह डाला –

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।६।।

अन्वयार्थ – (पिता कहीं सत्य को त्याग न दें, इस आशंका से नचिकेता बोला) – **पूर्वे** आपके पूर्वज **यथा** जैसे सत्यनिष्ठ थे, **अनुपश्य** उस पर विचार कीजिये; **तथा** वैसे ही **अपरे** वर्तमान सज्जन लोग जैसे सत्यनिष्ठ हैं, **प्रतिपश्य** इस पर भी सोचिये; **मर्त्यः** मनुष्य **सस्यम् इव** धान आदि अन्न के समान **पच्यते** जीर्ण होकर मर जाता है (और) **पुनः** फिर से **सस्यम् इव** अन्न के समान ही **आजायते** पैदा हो जाता है। (अत: इस अनित्य संसार में मिथ्या आचरण निरर्थक है।)

भाष्य – अनुपश्य आलोचय - निभालय अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृ-पितामह-आदयः तव । तान् दृष्ट्वा च तेषां वृत्तम् आस्थातुम् अर्हसि । वर्तमानाः च अपरे साधवः यथा वर्तन्ते तान् च प्रतिपश्य आलोचय । न च तेषु मृषा-करणं वृत्तं वर्तमानं वा अस्ति ।

भाष्य-अनुवाद – आपके दिवंगत पिता, पितामह आदि पहले जैसा आचरण कर गये हैं, उसे क्रमपूर्वक देखिये और विचार कीजिये। उन्हें देखकर आपके लिये उन्हीं का आचरण अपनाना उचित होगा। अन्य वर्तमान सज्जन लोग भी जैसा आचरण करते हैं, उन्हें भी देखकर विचार कीजिये। उनमें भी मिथ्या आचरण न था और न अब है।

तद्-विपरीतम् असतां च वृत्तं मृषा-करणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चित् अजर-अमरः भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिव आजायते आविर्भवति पुनः एवं अनित्ये जीवलोके किं मृषा-करणेन । पालय आत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमाय इति अभिप्रायः ।।

इसके विपरीत असत्य आचरण करना दुर्जनों का स्वभाव ही है। मिथ्या आचरण करके कोई अजर-अमर नहीं हो जाता, क्योंकि मनुष्य अनाज के समान जीर्ण होकर मर जाता है और मरने के बाद पुन: इस अनित्य जीवलोक में पैदा हो जाता है। अत: अपने वचन को तोड़ने से क्या लाभ? आप अपने सत्य का पालन कीजिये। तात्पर्य यह कि मुझे यम के पास भेज दीजिये। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

असंगचिद्रूपममुं विमोह्य
देहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबद्ध्य ।
अहं-ममेति भ्रमयत्यजस्रं
मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ।।१७८।।

अन्वय – असङ्ग-चिद्-रूपम् अमुं विमोह्य, देह-इन्द्रिय-प्राण-गुणैः निबध्य, 'अहं मम' इति फल-उपभुक्तिषु स्व-कृत्येषु मनः अजस्रं भ्रमयति ।

अर्थ – आत्मा असंग चैतन्य-स्वरूप है, परन्तु मन उसे विमोहित (भ्रमित) करके, देह-इन्द्रिय-प्राण-रूपी रस्सियों द्वारा बाँधकर, 'मैं' और 'मेरा' – इस भाव के द्वारा सुख-दु:ख आदि का उपभोग कराता है और स्वयं कामना-संकल्प आदि कर्मों में निरन्तर घुमाता रहता है ।

अध्यासदोषात्पुरुषस्य संसृति-
रध्यास-बन्धस्त्वमुनैव कल्पितः ।
रजस्तमो-दोषवतोऽविवेकिनो
जन्मादि-दुःखस्य निदानमेतत् ।।१७९।।

अन्वय – पुरुषस्य अध्यास-दोषात् संसृतिः, अध्यास-बन्धः तु अमुना एव कल्पितः । अविवेकिनः रजस्-तमो-दोषवतः एतत् जन्म-आदि-दुःखस्य निदानम् ।

अर्थ – अध्यास* के दोष से ही पुरुष को यह जन्म-मृत्युमय संसार प्राप्त होता है। यह अध्यास-रूपी बन्धन निश्चय ही केवल मन द्वारा कल्पित है । यह मन ही रजोगुण तथा तमोगुण के दोषों से युक्त होकर अविवेकी पुरुष के जन्म आदि समस्त दु:खों का मूल कारण होता है ।

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ।।१८०।।

अन्वय – अतः तत्त्वदर्शिनः पण्डिताः मनः अविद्यां प्राहुः, वायुना अभ्रमण्डलम् इव येन एव विश्वं भ्राम्यते ।

अर्थ – इसीलिये तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग मन को ही अविद्या (अज्ञान) कहते हैं । जैसे मेघों का समूह वायु के द्वारा (आकाश में) इधर-उधर परिचालित होता है, उसी प्रकार यह सारा संसार मनरूपी अविद्या के द्वारा परिचालित हो रहा है ।

तन्मनःशोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ।।१८१।।

अन्वय – (अतः) मुमुक्षुणा प्रयत्नेन तत्-मनः शोधनं कार्यं । च एतस्मिन् विशुद्धे सति मुक्तिः कर-फलायते ।

अर्थ – अत: मुक्तिकामी साधक को प्रयत्नपूर्वक इस मन की शुद्धि का कार्य करना चाहिये । इसके शुद्ध हो जाने पर मुक्ति हाथ पर रखे हुए फल के समान सुलभ हो जाती है ।

मोक्षैकसक्त्या विषयेषु रागं
निर्मूल्य संन्यस्य च सर्वकर्म ।
सच्छ्रद्धया यः श्रवणादिनिष्ठो
रजःस्वभावं स धुनोति बुद्धेः ।।१८२।।

अन्वय – यः मोक्ष-एक-सक्त्या, विषयेषु रागं निर्मूल्य च सर्वकर्म संन्यस्य सत्-श्रद्धया श्रवणादि-निष्ठः सः बुद्धेः रजः स्वभावं धुनोति ।

अर्थ – (जो व्यक्ति) मोक्ष के प्रति प्रगाढ़ प्रीति के द्वारा, समस्त इन्द्रियग्राह्य (सौन्दर्य, रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों के प्रति आसक्ति का समूल नाश और समस्त (सकाम) कर्मों का त्याग कर देता है; और सत्-स्वरूप ब्रह्म में पूर्ण श्रद्धा के साथ (शास्त्र या गुरुवाक्य के) श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन में निष्ठावान हो जाता है, वह इस प्रकार अपनी बुद्धि की रजोगुणी वृत्ति का नाश कर डालता है ।

मनोमयो नापि भवेत् परात्मा
ह्याद्यन्तवत्त्वात् परिणामिभावात् ।
दुःखात्मकत्वाद् विषयत्वहेतो-
र्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ।।१८३।।

अन्वय – आदि-अन्तवत्-त्वात् परिणामि-भावात् दुःखात्मक-त्वात् विषयत्व-हेतोः मनोमयः अपि न हि परात्मा भवेत्, द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ।

अर्थ – मनोमय कोश उत्पन्न और नष्ट होता है, इसमें परिणाम (परिवर्तन) होता है, यह दु:खात्मक है, यह (अन्य वस्तुओं के समान) एक विषय है, इस कारण यह भी कदापि परमात्मा नहीं हो सकता । द्रष्टा कभी दृश्य के रूप में दीख नहीं सकता ।

❖ (क्रमशः) ❖

* अध्यास – एक वस्तु में दूसरे का भ्रम होना । रज्जु में सर्प के समान 'जड़' में 'चैतन्य' का भ्रम होना ।

अपूर्व त्याग

रामेश्वर टांटिया

भीष्म की प्रतिज्ञा और त्याग सर्वविदित है। १५वीं सदी की एक ऐतिहासिक कथा इसी तरह की है। मेवाड़ के राणाओं में कुम्भा, सांगा, प्रताप और राजसिंह के नाम वीरता और देशभक्ति में बड़े गौरव से लिये जाते हैं। उसी तरह राणा लाखा का नाम वीरता के साथ-साथ दानियों में भी लिया जाता है। अलाउद्दीन खिलजी के तोड़े हुए मन्दिरों का इन्होंने पुनर्निर्माण कराया, बहुत-से नये मन्दिर, कुएँ और बावड़ियाँ बनवाई। उदयपुर की पिछोला झील इन्हीं के समय में बनी थी।

सन् १४१३ की बात है – लाखा को गद्दी पर बैठे ३० वर्ष हो गये थे। वृद्ध हो गये थे, दाढ़ी-मूँछे सफेद हो गई थीं, चेहरे पर सलवटें पड़ गई थी। अब वे अपने ज्येष्ठ पुत्र चण्ड को राज्य सौंपकर पहाड़ों में तपस्या के लिये जाने का विचार कर रहे थे।

एक दिन सरदारों से घिरे हुए चित्तौड़ के किले के दरबार में बैठे थे। युवराज चण्ड अभी तक नहीं आया था।

तभी मारवाड़ का दूत आया और कहने लगा – "महाराणाजी, मारवाड़पति महाराज रणमल ने अपनी प्रिय बहन हंसा का युवराज चण्ड के साथ विवाह के अभिप्राय से नारियल भेजा है। कृपया स्वीकार करके मारवाड़ का गौरव बढ़ाएँ। राजकुमारी रूप और गुणों में सब प्रकार से युवराज के अनुरूप है।"

महाराणा ने सारी बात ध्यान से सुनी, फिर अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए हँसकर कहा, "क्या आपके महाराज हमारे जैसे वृद्धों पर यह कृपा नहीं करेंगे?" इसी प्रकार हँसी - दिल्लगी हो रही थी, तभी राजकुमार सभा में आया। राणा की कहीं हुई बात उन्होंने सुनी। हँसी में कही गयी इस बात को सुनकर वे गम्भीर चिन्ता में मग्न हो गये। सोचने लगे कि स्वयं महाराणा ने मारवाड़ की राजकुमारी के लिये इच्छा व्यक्त कर दी, तो अब वह मेरी माता के तुल्य हो गयी है। अब मैं भला कैसे उसे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कर सकता हूँ।

राणाजी ने युवराज को बहुत प्रकार से समझाया। बोले, "साधारण हँसी में कही हुई बात को तुम इतनी गम्भीरता से क्यों लेते हो। भला यह भी कोई अस्वीकृति का कारण है।"

परन्तु चण्ड अपने निर्णय पर दृढ़ रहा। राणा ने क्रुद्ध होकर कहा, "आज तक तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, फिर आज क्यों इस प्रकार का हठ कर रहे हो? आज मारवाड़ हमारा मित्र राज्य है, परन्तु इस अपमान के बाद वे शत्रु हो जायेंगे। दोनों राज्यों में युद्ध होकर हजारों वीरों की मृत्यु अवश्यम्भावी है। पहले से ही तुगलकों की हमारे ऊपर नजर है, फिर ऐसी हालत में हम मारवाड़ से कैसे बैर ले सकेंगे? अगर मैं अपने लिये टीका मंजूर करता हूँ तो मारवाड़-नरेश अपनी प्रिय बहन का मुझ जैसे वृद्ध के साथ विवाह करके क्या उसे दुखी बनायेंगे?"

– "पिताजी, मेरा निश्चय तो अटल है, अगर वे आपका रिश्ता मंजूर नहीं करते हैं तो मैं युद्ध करके उनकी बहिन को लाकर आपके चरणों पर गिरा दूँगा।"

राणा उद्विग्न होकर कहने लगे, "अगर तुम इसी बात पर अड़े हुए हो, तो तुम्हें यह राज्य भी त्याग करना होगा। मारवाड़ की राजकुमारी से जो पुत्र होगा, वही मेवाड़ का राणा होगा। बोलो, यह मंजूर है?" – "हाँ महाराज, मंजूर है।"

दूत ने मण्डोवर जाकर सारी बातें रणमल से कही। १४ वर्षीय राजकुमारी का विवाह ६० वर्ष के वृद्ध राणा से हुआ। उन दिनों राजाओं में इस प्रकार के बेमेल विवाह होते भी थे।

दूसरे वर्ष एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मोकल रखा गया। उसका लालन-पालन भविष्य के मेवाड़ के अधिपति की तरह होने लगा। मोकलजी जब पाँच वर्ष के हुए, तभी गया तीर्थ पर तुगलकों के आक्रमण की सूचना मिली। राणा लाखा ने कुमार चण्ड और सरदारों को अपनी चुनी हुई सेना के साथ इस धर्मयुद्ध में शामिल होने का निर्णय बताया, बोले, "तुर्कों की बड़ी सेना से हम एक प्रकार से केशरिया पहनकर साका (मरने का निश्चय) करने जा रहे हैं। मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि मेरे पीछे बालक मोकल का क्या होगा?"

राणा को भय था कि सभी सरदार चण्ड की तरफ हैं, वह अपूर्व वीर है, शायद बालक मोकल को मारकर स्वयं गद्दी पर बैठ जायेगा। प्रिय पत्नी हंसा की भी दुर्गति होगी।

चण्ड समझ गया कि महाराणा का इशारा उसी की तरफ है। उसने खड़े होकर कहा, "महाराज, आप मोकलजी की चिन्ता न करें, वे मेवाड़ के महाराणा होंगे। हम सब जरूरत पड़ने पर उनके राज्य और मान के लिये जीवन की आहुति देंगे। अच्छा होगा, आपके सामने ही उनका राजतिलक हो जाय।"

राणा तो मन से यही चाहते थे। दो-चार दिनों में तिलक की रस्म बड़ी धूमधाम से हुई। सबसे पहले युवराज चण्ड ने राजभक्ति की शपथ खाकर बालक मोकल की अभ्यर्थना की। चण्ड के इस अद्भुत त्याग की पावन कथा राजस्थान में आज भी बड़े गर्व के साथ कही जाती है। मेवाड़ राज्य की सेना का हरावल उसी के वंशधरों के पास रहता है। ❑